

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नम ॥

श्रीमद्भगवद्-

गीताकी विभूति और विश्वरूप-दर्शन

[श्रीमद्भगवद्गीताके दसवें एवं ग्यारहवें अध्यायोंकी
विस्तृत व्याख्या]

श्यामी रामसुखदास

प्रकाशक-गोविन्दभवन-कार्यालय, गीताप्रेस, गोरखपुर

स० २०४१ प्रथम संस्करण २०,०००

मूल्य तीन रुपये

मुद्रक-गीताप्रेस, गोरखपुर

नम्र निवेदन

श्रीमद्भगवद्गीता धर्म्यसवाद एव श्रीभगवान्की दिव्य वाणी है। इसकी भाषा सरल एव शैली सरस होते हुए भी विषय-वैशिष्ट्य गूढ है। अतः स्वाध्याय एवं पूर्ण मनोयोगसे मननके बिना सर्वशास्त्रमयी गीताका शास्त्रीय स्वारम्य सुगम नहीं हो पाता। ऐसी परिस्थितिमें गीता-तत्त्वार्थको सुगमतासे अवगत करनेकी सुतराम् आवश्यकता है।

प्रस्तुत पुस्तकमें गीताकी विभूति और विश्वरूप-दर्शनका बोधगम्य विवेचन गीता-तत्त्वार्थके मार्मिक मन्ता एवं भारत-प्रसिद्ध व्याख्याता परम धर्मेय स्वामीजी धीरामसुखदासजी महाराजने सरस एव सरल भाषा-शैलीमें किया है। साधकोपयोगी अमूल्य तत्त्वार्थका अन्वेषण और लोकमें उनका वितरण ही आपके जीवनका लोकसंग्रही ध्येय है। आप इसका ध्येय गीता माताकी महती अनुकम्पा ही स्वीकारते हैं।

आपकी प्रस्तुत पुस्तक अति उपादेय है। आशा है कि प्रेमी पाठक एव साधकगण इसके अध्ययन, मनन एवं चिन्तनसे गीता-तत्त्वार्थको अवगत कर भगवत्परायणताकी उपलब्धि करेंगे।

विषय-सूची

श्रीमद्भगवद्गीताके दसवें और ग्यारहवें अध्यायोंका मूल पाठ श—फ
प्राक्यन ७—३

दसवों अध्याय

श्लोक-सख्या	प्रधान विषय	पृष्ठ
१-७	भगवान्की विभूति और योगका ऋधन तथा उनको जाननेकी महिमा	१-२६
८-११	फलसहित भगवद्भक्ति और भगवत्कृपाका प्रभाव तथा योग	२६-४४
१२-१८	अर्जुनद्वारा भगवान्की स्तुति और योग तथा विभूतियोंको कहनेके लिये प्रार्थना	४४-६०
१९-६२	भगवान्के द्वारा अपनी विभूतियोंका आर योगका यणन	६०-११४
	सूक्ष्म विषय	
१	अर्जुनके हितके लिये भगवान्द्वारा पुन महत्त्वपूर्ण यचन कहनेकी प्रतिज्ञा	१-५
२	भगवान्के प्राक्यको जाननेमें देवताओं और महर्षियोंकी अउमर्षना	१-८
३	भगवान्को तत्त्वसे जाननेका फल	८-१०
४-५	भावरूपसे तीस विभूतियोंका ऋधन (विशेष, यान १५)	११-१६
६	व्यक्तिसंयमे पचीउ विभूतियाँना ऋधन	१७-२०

- ७ विभूति और योगको तत्त्वसे जाननेका फल—अविचल भक्ति .. २०—२६
 (विशेष वात २२)
- ८ भगवान्के प्रभावको जानकर भजन करनेका वर्णन २६—३०
 (विशेष वात ३०)
- ९ भक्तोंके द्वारा होनेवाले भजनका प्रकार * ३१—३७
- १०-११ कृपाके परवश हुए भगवान्द्वारा भक्तोंको बुद्धियोग देना और उनके अज्ञानजन्य अन्धकारका नाश करना ३७—४४
 (विशेष वात ४२)
- १२-१५ अर्जुनद्वारा भगवान्की स्तुति ४४—५०
- १६-१८ योग और विभूतियोंको विस्तारपूर्वक कहनेके लिये अर्जुनकी प्रार्थना .. ५१—५९
 (स्तुति, प्रार्थना और प्रश्न-सम्यन्धी विशेष वात ५५)
- १९ अर्जुनकी प्रार्थनाके अनुसार विभूतियोंको कहनेके लिये भगवान्द्वारा स्वीकृति और उपक्रम ६०—६४
- २०-२९ भगवान्द्वारा अपनी ग्यासी विभूतियोंका कथन ६४—१०४
 (विशेष वात १०३)
- ४० भगवान्द्वारा अपनी दिव्य विभूतियोंको अनन्तता बताना १०४—१०७
- ४१ भगवान्द्वारा अपनी योगशक्तिका वर्णन १०७—११२
 (विशेष वात १११)
- ४२ भगवान्द्वारा सम्पूर्ण जगत्को अपने एक अंशसे व्याप्त बताना .. ११२—११४
- दसवें अध्यायके पद, अक्षर एव उच्चाच .. ११५
- दसवें अध्यायमें प्रयुक्त छन्द .. ११६

ग्यारहवाँ अध्याय

श्लोक-सख्या	प्रधान विषय	पृष्ठ
१-८	विराटरूप दिखानेके लिये अर्जुनकी प्रार्थना और भगवान्द्वारा अर्जुनको दिव्यचक्रु प्रदान करना	११७-१२७
९-१४	सजयद्वारा धृतराष्ट्रके प्रति विराटरूपका वर्णन	१२७-१४५
१५-३१	अर्जुनद्वारा विराटरूपको देखना और उसकी स्तुति करना	१४६-१८१
३२-३५	भगवान्द्वारा अपने अत्युग्रविराटरूपका परिचय और युद्धकी आज्ञा	१८१-१९६
३६-४६	अर्जुनद्वारा विराटरूप भगवान्की स्तुति प्रार्थना	१९७-२२१
४७-५०	भगवान्द्वारा विराटरूपके दर्शनकी दुर्लभता बताना और भयभीत अर्जुनको आश्वासन देना	२२१-२३७
५१-५५	भगवान्द्वारा चतुर्भुजरूपकी महत्ता और उसके दर्शन का उपाय बताना	२३७-२५३
मूकम विषय		
१-२	अर्जुनद्वारा परम गोपनीय अध्यात्मतत्त्वकी महिमाका ध्यान	२१७-२२१
३-४	अर्जुनद्वारा विराटरूप-दर्शनके लिये विनम्र प्रार्थना	१२१-१२६
५-७	भगवान्द्वारा अर्जुनको विराटरूप देखनेकी आज्ञा (विशेष बात १३२)	१२७-१३३
८	भगवान्द्वारा अर्जुनको दिव्यचक्रु प्रदान करना (विशेष बात १३५)	१३३-१३७
९	सजयद्वारा अर्जुनको विराटरूप दिखाये जानेका कथन	१३७-१३८
१०-११	विराटरूपकी दिव्यताका वर्णन	१३८-१४५

श्लोक-सख्या	सूक्ष्म विषय	पृष्ठ
१२	विराटरूपके अतुलनीय प्रकाशका वर्णन	१४१-१४३
१३	सजयद्वारा भगवान्‌के शरीरके एक देशमें सम्पूर्ण विराटरूपका कथन	१४३-१४४
१४	अर्जुनकी दशाका वर्णन	१४४-१४५
१५	अर्जुनद्वारा विराटरूपमें दिव्य त्रिलोकीका वर्णन (विशेष बात १४७)	१४६-१४९
१६	विराटरूप भगवान्‌के अनन्त अवयवोंका वर्णन	१४९-१५१
१७	सभी दिव्य आयुधोंसहित विराटरूपके तेजका वर्णन	१५१-१५३
१८	विराटरूप भगवान्‌के समग्ररूपका वर्णन	१५३-१५४
१९-२०	अनन्त, असीम और उग्र विराटरूपका वर्णन	१५४-१६०
२१-२२	महर्षियोंके द्वारा विराटरूप भगवान्‌की स्तुति करने और देवता, यक्ष, असुर आदिके विस्मित होनेका कथन	१६०-१६३
२३-२५	विराटरूपके अत्युग्र स्वरको देखकर अर्जुनका व्यथित होना	१६३-१७०
२६-२९	नदियों और पतंगोंके दृष्टांतसे दोनों सेनाओंका भगवान्‌के मुखोंमें प्रविष्ट होनेका वर्णन	१७०-१७७
३०	अत्युग्र विराटरूप भगवान्‌द्वारा जीभसे चाटते हुए सबका ग्रसन करनेका कथन	१७८-१७९
३१	अर्जुनद्वारा अत्युग्र विराटरूप भगवान्‌से परिचय पूछना	१७९-१८१
३२	विराटरूप भगवान्‌द्वारा कालरूपसे अपना परिचय देना	१८१-१८४
३३-३४	भगवान्‌द्वारा अर्जुनको निमित्तमात्र बनकर युद्ध करनेकी आज्ञा	१८४-१९४
	(विशेष बात १९०)	

श्लोक-संख्या	सूक्ष्म विषय	पृष्ठ
३७	भगवान्की स्तुति करनेके लिये अर्जुनका तैयार होना।	१९५-१९६
३६-३७	विराटरूपकी महत्ताका फयन	१९७-२०३
३८-४०	विराटरूपकी अनंतरूपता और अनन्त नामधर्षका फयन	२०३-२०७
४१-४२	अर्जुनद्वारा अपने पूवङ्गन तिरस्कारके लिये भगवान्से क्षमा प्रार्थना	२०७-२११
४३	विराटरूप भगवान्के प्रभावका वर्णन	२१२-२१३
४४	अर्जुनद्वारा भगवान्से अपमान सहन करनेके लिये प्रार्थना (ग्यारहवें अध्यायमें ग्यारह रसोंका घणन २१५)	२१३-२१६
४५-४६	अर्जुनद्वारा भगवान्से चतुर्भुजरूप दिग्गानेके लिये प्रार्थना	२१६-२२१
४७-४९	भगवान्द्वारा विराटरूप दर्शनकी महिमा और दुर्लभता बताकर चतुर्भुजरूप देखनेकी आज्ञा (भगवत्कृपा-सम्बन्धी विशेष बात २२४; सत्य और अर्जुनकी दिव्यदृष्टि फननक रही १ २३०)	२२१-२३४
५०	भगवान्द्वारा चतुर्भुजरूप दिखानेके लिये सौम्य द्विभुजरूप हो जाना ***	२३५-२३७
५१	भगवान्का मानुषरूप देखकर अनुनका शान्तचित्त हो जाना	२३७-२३८
५२-५३	चतुर्भुजरूपके दर्शनकी दुर्लभता	२३९-२४४
५४	अनन्यभक्तिसे भगवत्प्रातिषी मुल्भता (विशेष बात २४८)	२४४-२४८
५५	अनन्यभक्तिके घाषन ग्यारहवें अध्यायके पद, अक्षर एन उवाच	*** २४८-२५३ २५४
	ग्यारहवें अध्यायमें प्रयुक्त छन्द	२५४

ॐ श्रीपरमात्मने नम

अथ दशमोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

भूय एव महानाहो शृणु मे परमं वचः ।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥ १ ॥
न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः ।
अहमादिहिं देवानां महर्षीणां च सर्वशः ॥ २ ॥
यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपार्ष्वैः प्रमुच्यते ॥ ३ ॥
बुद्धिर्ज्ञानमसमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः ।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च ॥ ४ ॥
अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यज्ञोऽयज्ञः ।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्निधाः ॥ ५ ॥
महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥ ६ ॥
एतां विभूर्तिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः ।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥ ७ ॥

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।
 इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥ ८ ॥
 मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
 कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥ ९ ॥
 तेषां सततयुक्तानां भजता प्रीतिपूर्वकम् ।
 ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥ १० ॥
 तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
 नाशयाम्यात्मभारम्यो ज्ञानदीपेन भासता ॥ ११ ॥

अर्जुन उवाच

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् ।
 पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमन विभुम् ॥ १२ ॥
 आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नरिदस्तथा ।
 असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ॥ १३ ॥
 सर्वमेतद्वत्तं मन्ये यन्मां वदसि केशव ।
 न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानयाः ॥ १४ ॥
 स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम ।
 भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ॥ १५ ॥
 वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मनिभूतयः ।
 याभिर्निभूतिभिर्लोकानिमास्त्वं व्याप्य तिष्ठसि ॥ १६ ॥
 कथं प्रिद्यामहं योगिंस्त्वा सदा परिचिन्तयन् ।
 केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया ॥ १७ ॥

विस्तरेणात्मनो योग निभृति च जनार्दन ।

भूयः कथय वृत्तिर्हि षृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥१८॥

श्रीभगवानुवाच

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मनिभृतयः ।

प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ॥१९॥

अहमात्मा गुडाकेश मर्जभूताशयस्थितः ।

अहमादिश्च मध्य च भूतानामन्त एव च ॥२०॥

आदित्यानामह त्रिणुज्योतिषा रत्निरशुमान् ।

सरीचिर्मरुतामसि नक्षत्राणामहं शशी ॥२१॥

वेदाना सामवेदोऽसि देवानामसि वासनः ।

इन्द्रियाणा मनश्चासि भूतानामसि चेतना ॥२२॥

रुद्राणा शकरश्चासि त्तेशो यक्षरक्षसाम् ।

वसूना पापकथासि मेरुः शिखरिणामहम् ॥२३॥

पुरोधसा च मुख्य मा त्रिद्वि पार्थ ॥बृहस्पतिम् ।

सेनानीनामह रुद्रन्दः सरसामसि सागरः ॥२४॥

महर्षीणा भृगुरह गिरामस्व्येकमक्षरम् ।

यज्ञाना जपयज्ञोऽसि स्थावराणा हिमालयः ॥२५॥

अश्वत्थः सर्पवृक्षाणा देवर्षीणा च नारदः ।

गन्धर्वाणा चित्ररथः सिद्धाना कपिलो मुनिः ॥२६॥

उच्चैःश्रवसेमश्वाना त्रिद्वि माममृतोद्भवम् ।

येरावतं गजेन्द्राणा नराणा च नराधिपम् ॥२७॥

आयुधानामह वज्रं धेनूनामसि कामधुक् ।
 प्रजनश्चासि कन्दर्पः मर्षाणामसि वासुकिः ॥२८॥
 अनन्तश्चास्मि नागाना वरुणो यादसामहम् ।
 पितृणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ॥२९॥
 प्रह्लादश्चासि दैत्यानां कालः कलयतामहम् ।
 मृगाणा च मृगेन्द्रोऽह वैनतेयश्च , पक्षिणाम् ॥३०॥
 पयनः पयतामस्मि रामः शङ्खभृतामहम् ।
 क्षपाणा मरुतश्चासि स्रोतसामसि जाह्नवी ॥३१॥
 सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन ।
 अध्यात्मप्रिया निद्याना वादः प्रवदतामहम् ॥३२॥
 अक्षराणामकारोऽसि द्वन्द्वः सामासिकस्य च ।
 अहमेवाक्षयः कालो धाताह विश्वतोमुखः ॥३३॥
 मृत्युः सर्पहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम् ।
 कीर्तिः श्रीर्वाक्च नागीणा स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ॥३४॥
 बृहत्साम तथा साम्ना गायत्री छन्दसामहम् ।
 मासाना मार्गशीर्षोऽहमृतूना कुसुमाकरः ॥३५॥
 धृतं छलयतामसि तेजस्तेजस्विनामहम् ।
 जयोऽसि व्यवमायोऽसि सत्त्वं सत्त्वनतामहम् ॥३६॥
 घृष्णीना वामुदेवोऽसि पाण्डवाना धनञ्जयः ।
 मृनीनामप्यहं ज्व्यामः करीनामृशना कविः ॥३७॥
 दण्डो दमयतामस्मि नीतिरसि जिगीषताम् ।
 मौनं चैवासि गुह्याना ज्ञानं ज्ञानतामहम् ॥३८॥

यच्चापि सर्वभूताना चीज तदहमर्जुन ।
 न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥३९॥
 नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीना परतप ।
 एष नृद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्भिन्नो मया ॥४०॥
 यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
 तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोऽशसभयम् ॥४१॥
 अथवा ब्रह्मर्षेण किं ज्ञातेन तवार्जुन ।
 विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकाशेन स्थितो जगत् ॥४२॥

ॐ तस्मिन् श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मनिद्याया
 योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विभूतियोगो
 नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

अथैकादशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम् ।
 यच्चयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥ १ ॥
 भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ निस्तरणो मया ।
 त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ॥ २ ॥
 एवमेतद्यथात्थं त्वमात्मानं परमेश्वरम् ।
 द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तमम् ॥ ३ ॥

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो ।
योगेश्वर ततो मे त्व दर्शयात्मानमव्ययम् ॥ ४ ॥

श्रीभगवानुवाच

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः ।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥ ५ ॥
पश्यादित्यान्वसून् रुद्रानश्विनां मरुतस्तथा ।
बहून्यदृष्टपूर्णाणि पश्याश्चर्याणि भाग्य ॥ ६ ॥
इहैकस्थ जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम् ।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद् द्रष्टुमिच्छसि ॥ ७ ॥
न तु मा शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ।
दिव्य ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥ ८ ॥

सजय उवाच

एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः ।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥ ९ ॥
अनेकप्रकरनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।
अनेकदिव्याभरण दिव्यानेत्रेप्रतायुधम् ॥ १० ॥
दिव्यमाल्याम्बरधर दिव्यगन्धानुलेपनम् ।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ॥ ११ ॥
दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ।
यदि भाः सदृशी मा स्याद्भ्रासन्तस्य महात्मनः ॥ १२ ॥
। तौकस्थ जगत्कृत्स्नं प्रतिभक्तमनेकधा ।
। अपश्यदेवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥ १३ ॥

ततः स विस्मयाग्निष्टो हृष्टरोमा धनंजयः ।
 अणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ॥१४॥

अर्जुन उवाच

पश्यामि देवास्तत्र देव देहे
 सर्पास्तथा भूतनिशेषसंधान् ।
 ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थ-
 मृषोंश्च सर्पान्तुरगाश्च दिव्यान् ॥१५॥
 अनेकवाहूदरवक्त्रनेत्र
 पश्यामि त्वा सर्पतोऽनन्तरूपम् ।
 नान्तं न मध्यं न पुनस्तत्रादि
 पश्यामि निश्वेश्वर विश्वरूप ॥१६॥
 किरीटिन गदिनं चक्रिण च
 तेजोराशिं सर्पतो दीप्तिमन्तम् ।
 पश्यामि त्वा दुर्निरीक्ष्यं समन्ता-
 दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥१७॥
 त्वमक्षर परम वेदितव्यं
 त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
 त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता
 सनातनस्त्व पुरुषो मतो मे ॥१८॥
 अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्य-
 मनन्तग्राहू शशिस्वर्यनेत्रम् ।

तेजोभिरापर्यं जगत्समग्रं
भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥३०॥

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो
नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद ।

विज्ञातुमिच्छामि भयन्तमाद्यं
न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥३१॥
श्रीभगवानुवाच

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो
लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः ।

ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे
येऽग्रथिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥३२॥

तस्मान्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व
जित्वा शत्रुन्भुङ्क्ष्व राज्य समृद्धम् ।
मयैवेते निहताः पूर्वमेव
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥३३॥

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च
कर्णं तथान्यानपि योधवीरान् ।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा
युध्यस्व जेतासि रणो सपत्नान् ॥३४॥

सजय उवाच ।

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य
कृताञ्जलिर्वेपमानः किरौटी ।

[ध]

नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं
मगद्वदं भीतभीतः प्रणम्य ॥३५॥

अर्जुन उवाच

स्थाने हपीकेश तत्र प्रकीर्त्या
जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च ।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति
सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसङ्घाः ॥३६॥

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन्
गरीयसे ब्रह्मणोऽध्यादिकर्त्रे ।

अनन्त देवेश जगन्निवास
त्वमक्षर सदसत्तत्पर यत् ॥३७॥

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण
स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।

वेत्तासि वेद्य च पर च धाम
त्वया तत विश्वमनन्तरूप ॥३८॥

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः
प्रजापतिस्त्व प्रपितामहश्च ।

नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः
पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥३९॥

नमः पुरस्तादथ पृष्टतस्ते
नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ।

अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्र

सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥४०॥

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं

हे कृष्ण हे यादव हे सखेति ।

अजानता महिमान तवेद

मया प्रमाढात्प्रणयेन वापि ॥४१॥

यचाप्रहासार्थमसत्कृतोऽमि

त्रिहाग्शय्यान् भोजनेषु ।

एकोऽध्याप्यच्युत तत्तम

तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥४२॥

पितासि लोकस्य चराचरस्य

त्वमस्य प्रज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।

न त्वत्तमोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो

लोकरवेऽप्यप्रतिमप्रभाय ॥४३॥

त्तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं

प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम् ।

पितेन पुत्रस्य सखेव सरयुः

प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥४४॥

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽसि दृष्ट्वा

भयेन च प्रव्यथितं मनो मे ।

तदेव मे दर्शय देव रूप

प्रसीद देवेन जगन्निवास ॥४५॥

किरीटिन गदिनं चक्रहस्त- ५।
 मिच्छामि त्वा द्रष्टुमह तथैव ।
 तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन
 सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ॥४६॥

श्रीभृगवानुवाच

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेद
 रूपं परं दर्शितमात्मयोगात् ।
 तेजोमय विश्वमनन्तमाद्यं
 यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥४७॥

न वेदयन्नाध्ययनेन [दानै-
 र्ना च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः ।
 एवंरूपः शक्य अहं नृलोके
 द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥४८॥

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो
 दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृशमेदम् ।
 व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं
 तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥४९॥

सत्रय उवाच

इत्यर्जुन वासुदेवस्तथोक्त्वा
 स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः ।

आधासयामास च भीतमेन
 भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥५०॥

अर्जुन उवाच ॥ ५० ॥

दृष्ट्वा मानुष रूपं तव सौम्य जनार्दन ।
 इदानीमस्मि संवृत्तः मचेताः प्रकृतिं गतः ॥५१॥

श्रीभगवानुवाच ॥

मुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम ।
 देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः ॥५२॥

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चैज्यया ।
 शक्योऽत्र पिधोऽदृष्टुं दृष्टवानसि मा यथा ॥५३॥

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेऽपिधोऽर्जुन ।
 ज्ञातुं द्रष्टु च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥५४॥

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः मद्भजितः ।
 निरः समसूतेषु यः समाप्ति पाण्डव ॥५५॥

तस्तदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्याया
 योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विश्वरूपदर्शनयोगो

नामकाण्डोऽध्याय ॥ ११ ॥



प्राकथन

गीतामें त्रिभूति-वर्णन

श्रीमद्भगवद्गीतामें जहाँ-कहीं भी त्रिभूतियोका वर्णन हुआ है, वह साधकके अन्यभावको हटानेके लिये ही हुआ है। 'से—सातवें अध्यायके सातवें श्लोकमें भगवान्ने 'मत्त परत्तर नान्यत्' 'मेरे सिवाय अय कोई कारण नहीं' ऐसा कहा, और उसके बाद आठवें से बारहवें श्लोकतक अथवा मात्र दूर करनेके लिये कारण-रूपसे अपनी सत्रह त्रिभूतियोंका वर्णन किया। नवें अध्यायके तेरहवें श्लोकमें भगवान्ने बताया कि महात्माके अनन्य मनवाले होकर मेरा भजन करते हैं। अन्यमें मन कब जाता है? जब अन्यमें कुछ विशेषता, महत्ता, सत्ता दिखायी देती है। अन्य (ससार-) में जो कुछ अलौकिकता, महत्ता, सत्ता दिखायी देती है, वह सत्र वास्तवमें भगवान्की ही है। यदि उस वास्तविकताको साधक समझ ले तो उसका मन अयमें जायगा ही नहीं और जहाँ-कहीं मन जायगा, वहाँ अन्य रहेगा ही नहीं। यह बात बतानेके लिये भगवान्ने नवें अध्यायके सोलहवेंसे उन्नीसवें श्लोकतक कार्य-कारणरूपसे अपनी सैंतीस त्रिभूतियोका वर्णन किया।

इसमें अध्यायके दूसरे श्लोकमें भगवान्ने कहा कि मैं सत्र प्रकारमें देवताओं और महर्षियोंका भी आदि हूँ। वे मेरेसे ही पैदा होते हैं और उनमें जो कुछ विद्या, बुद्धि, योग्यता आदिकी विशिष्टता आयी है, वह सत्र मेरेसे ही आयी है। यह बतानेके लिये भगवान्ने

चौथे-पाँचवें श्लोकोंमें प्राणियोंके भावोंके रूपमें बीस त्रिभूतियोंका और छठे श्लोकमें व्यक्तियोंके रूपमें पचीस त्रिभूतियोंका वर्णन किया। सत्रहवें श्लोकमें अर्जुनने पूछा कि हे भगवान् । मैं सदा चिन्तन करते हुए आपको कैसे जानूँ और किन किन भावोंमें आपका चिन्तन करूँ ? इसके उत्तरमें भगवान्ने बीसवेंसे उन्नालीसवें श्लोकतक अपनी वयासी त्रिभूतियोंका वर्णन किया। इन त्रिभूतियोंका वर्णन भगवान्ने तीन रूपोंसे किया—(१) मुख्यरूपसे, जैसे—वेदोंमें सामवेद में हैं (१० । २२), (२) अधिपतिरूपसे, जैसे—नक्षत्रोंका अधिपति चन्द्रमा में हैं (१० । २१) और (३) स्वरूपसे, जैसे—अक्षय काल में हैं (१० । ३३)। इन तीनों रूपोंसे वर्णन करनेका तात्पर्य यही है कि किसी भी वस्तु, व्यक्ति आदिकी स्वतन्त्र महत्ता और सत्ता नहीं है। जो कुछ महत्ता और सत्ता दीखती है, वह केवल भगवान्की ही है। अन्तमें उन्नालीसवेंसे इक्कीसवें श्लोकतक भगवान्ने साररूपसे अपनी त्रिभूतियोंको जाननेकी बात कही।

पंद्रहवें अध्यायके ग्यारहवें श्लोकमें 'अहन्तात्मान' पदसे भगवान्ने बताया कि जिनका अन्तःकरण शुद्ध नहीं है, वे मेरेको नहीं जानते। सत्कारको महत्त्व देनेसे, उससे सम्यग् ज्ञानसे अन्तःकरण अशुद्ध होता है और भगवान्को महत्त्व देनेसे, उनसे सम्यग् ज्ञानसे अन्तःकरण शुद्ध होता है। इन वास्तविक भगवान्ने पंद्रहवें अध्यायके बारहवेंसे पंद्रहवें श्लोकतक प्रमाणरूपसे अपनी तेज त्रिभूतियों कहीं। इस तरह इन सभी अध्यायोंमें कुछ मिश्रकर एक ही धाराने त्रिभूतियोंका वर्णन हुआ है।

निभूति-वर्णनका उद्देश्य

मनुष्योका प्राय यह स्वभाव होता है कि वे किसी वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति, घटना आदिकी विशेषता, महत्ता, प्रभाव, सुन्दरता आदिको देखकर उसीमें आकृष्ट हो जाते हैं। वास्तवमें ससारमें जो कुछ विशेषता आदि दिखायी देती है, वह ससारकी है ही नहीं। कारण कि जो ससार एक क्षण भी स्थिर नहीं रहता, ऐसे क्षणभंगुर ससारकी विशेषता हो हो कैसे सकती है। उसमें जो कुछ विशेषता दीखती है, वह मूलमें ससारके आश्रय, आधार और प्रकाशक भगवान्-की ही है। परंतु भगवान्की तरफ दृष्टि न रहनेसे मनुष्य ससारमें ऊपरका भयका देखकर उस तरफ खिंच जाता है। केवल ऊपरके भयको देखकर आकृष्ट हो जाना और उसके मूल कारणको न देखना पशुओंकी वृत्ति है, मनुष्यकी नहीं। मनुष्य विवेक-प्रधान प्राणी है। इस वास्ते उसको तारकालिक दीखनेवाली ससारकी विशेषताको महत्त्व देकर उसमें आकृष्ट नहीं होना चाहिये। अगर मनुष्य बिना विचार किये ही उसमें आकृष्ट हो जाता है, तो उसमें विवेक-विचारकी प्रधानता ही कहाँ गयी। इस वास्ते मनुष्यको समारकी मानी हुई महत्तासे अपना मन हटाकर भगवान्की वास्तविक महत्तामें लगाना चाहिये। हमारे अध्यायमें भगवान्ने अर्जुनको निमित्त बनाकर माधकमात्रता मन अपनेमें आकृष्ट करनेके लिये अपनी निभूतियोका वर्णन किया है।

दसवें अध्यायमें भगवान्ने अपनी तिन मुख्य-मुख्य निभूतियोका वर्णन किया है, उन सारमें जो कुछ भी विशेषता देखनेमें आती है, वह सब भगवान्को लेकर ही है। इस वास्ते ससारमें जहाँ-

वहीं किञ्चिन्मात्र भी विशेषता दिवायी दे, उस विशेषताको लेकर सावकको स्वतः भगवान्का ही चिन्तन होना चाहिये । ससारकी विशेषताको माननेसे जहाँ ससारका चिन्तन होता है, वहाँ उस विशेषताको भगवान्की ही माननेसे वह चिन्तन भगवान्के चिन्तनमें परिणत हो जायगा अर्थात् वहाँ भगवान्का चिन्तन होने लगेगा । उस तरह (अर्जुनके प्रश्नके अनुरूप) अपना चिन्तन करानेके लिये ही भगवान्ने अपनी विभूतियाँ कही हैं ।

सावकको चाहिये कि हमें अध्यायमें जिन विभूतियोंका वर्णन हुआ है, उन विभूतियोंका महत्त्व देखते हुए उनका पठन-पाठन, श्रवण-मनन न करें । ये विभूतियाँ किन कारणोंसे मुक्त हैं । इनमें क्या-क्या विलक्षणता है : इनके विषयमें किन्-किस प्रथममें क्या-क्या लिखा है :—इस तरह वृत्ति न लगाकर ऐसा विचार करें कि इनका मूल क्या है । ये कहाँसे प्रकट हुई हैं । इस तरह अपनी वृत्तियोंका प्रवाह विभूतियोंकी तरफ न होकर उनका मूल भगवान्की तरफ ही होना चाहिये । मनुष्यकी वृत्तियोंका प्रवाह अपनी तरफ करवानेके लिये ही भगवान्ने विभूतियोंका वर्णन किया है (१० । ४१), क्योंकि अर्जुनकी यहाँ जिज्ञासा थी (१० । १७) । इस धारते ये विभूतियाँ भगवान्का चिन्तन करनेके लिये ही हैं । इन विभूतियोंमें निष्कण्ठा दीखे जयरा न दीखे, उनको जानें अथवा न जानें, फिर भी इनमें भगवान्का चिन्तन होना चाहिये । तात्पर्य है कि भगवान्का उद्देश्य विभूतियोंका वर्णन करनेका नहीं है, प्रयुक्त अपना चिन्तन करानेका है । चिन्तन करानेकर उद्देश्य

है—साधक मेरेको तत्त्वसे जान जाय 'ओर उसकी मेरेमें दृढ़ भक्ति हो जाय (१०।७)। इसी बातको लेकर अर्जुनके भीतर भगवान्की विभूतियोंको जाननेकी जिज्ञासा पैदा हुई।

योग और विभूतिका अर्थ

दसवें अध्यायके सातवें श्लोकमें दो बार 'योग' शब्द आया है। इस 'योग' शब्दके दो अर्थ हैं—(१) भगवान्के प्रभाव (सामर्थ्य-) का नाम योग है, जिससे सब विभूतियाँ प्रकट होती हैं और (२) भगवान्के साथ जीवके नित्य अपिचठ सम्बन्धका नाम योग है।

भगवान्के चिच्छेपण प्रभावसे अनन्त विभूतियाँ प्रकट होती हैं। जैसे, भगवान्ने कहा है कि 'जहाँ-कहाँ और जिन किन्हींमें जो कुछ ऐश्वर्य, सौन्दर्य और बल दीखना है, वह सब मेरे तेज (प्रभाव-)के किसी एक अंशसे उत्पन्न हुआ समझो' (१०।११)। इस तेजका नाम ही 'योग' है और इसी तेज-(योग-) से ससारकी सम्पूर्ण विशेषताएँ प्रकट होती हैं तथा इन विशेषताओंको ही 'विभूति' कहते हैं। इस तरह सभी विभूतियाँ भगवान्से ही पैदा होती हैं और उनमें जो कुछ विशेषता दीखती है, वह सब भगवान्की ही है—ऐसा जानना ही विभूति और योगके तत्त्वको जानना है, जिसको जाननेसे मनुष्य अपिचठ भक्तिसे युक्त हो जाता है (७।१०)।

भगवान्ने अपने योग (सामर्थ्य-) से प्रकट होनेवाली विभूतियोंका जो वर्णन किया है, वह अपने वास्तविक योग (सम्बन्ध-) की स्मृति करानेके लिये ही किया है।

सच्चा ऐश्वर्य

मनुष्यके भीतर विलक्षणता देखनेकी जो इच्छा होती है, वह इच्छा वास्तवमें सच्चे ऐश्वर्य, माधुर्य, सौन्दर्य और औदार्यकी ही होती है । कारण कि ससारमें, निरक्षरता, सुन्दरता आदि है ही नहीं । अगर ससारमें निरक्षरता आदि हो तो वह सदा रहनी चाहिये, पर वह सदा रहती नहीं, क्योंकि वह ससारकी है ही नहीं । इस वास्ते इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिके द्वारा नाशवान् ससारमें जो विलक्षणता दीखती है, वह असत् है । असत्को महत्त्व देनेके कारण मनुष्य उसमें फँस जाता है ।

असत् पदार्थसे हमारी कभी तृप्ति नहीं हुई, अभी भी नहीं हो रही है, आगे भी नहीं होगी और कभी भी होनी सम्भव नहीं है । कारण कि स्वयं (स्वरूप) सत् है और पूर्ण है । परन्तु असत् (नाशवान्) शरीरको, पदार्थोंको, क्रियाओंको हमने जो महत्त्व दिया है, उनसे सम्बन्ध जोड़ा है, उसीसे हमें स्वयंमें अपूर्णता माझम देती है । असत्के साथ हम ज्यों-ज्यों अधिक सम्बन्ध जोड़ते हैं, त्यों-ही-त्यों यह अपूर्णता बढ़ती चली जाती है । इस वारसे मनुष्य इन शरीर-ससारसे विमुक्त होकर निम्न परमात्मासे असत्में भी निरक्षरता द्रिष्टाधी देती है, उमने सच्चे ऐश्वर्यमें आकृष्ट हो जाय तो सदाके लिये निहाल हो जाय ।

सच्चा ऐश्वर्य नहीं है, जिसका कभी अभाव नहीं होता, जिसमें कभी क्लिष्टिमात्र भी उन्मी नहीं धनी, प्रत्युत जो प्रतिक्षण बढ़ता ही रहता है और जिसमें कभी अरुचि नहीं धनी ।

प्राणिमात्रका यह अनुभव भी है कि अपने अभावका अनुभव किसीको भी नहीं होता और अपने अभावकी रचि भी कभी नहीं होती। ऐसे ही यह प्राणी जिस परमात्माका अंश है, उस परमात्माके ऐश्वर्य, मायुर्य और सौन्दर्यसे अरुचि हो ही कैसे सकती है :

विभूतियोंकी दिव्यता

दसमें अध्यायमें अर्जुनने सोलहवें श्लोकमें आर भगवान्ने उन्नीसवें तथा चालीसवें श्लोकमें इन विभूतियोंको 'दिव्य' कहा है। इसका कारण यह है कि जिस किसी वस्तु, व्यक्ति, क्रिया आदिमें जो कुछ विशेषता दिखायी देती है, वह वस्तुतः भगवान्की ही है। दिव्यातिदिव्य तो एक भगवान् ही हैं। इस वास्ते जितनी भी विभूतियाँ हैं, वे सभी तत्त्वमें दिव्य हैं। परन्तु सावकके सामने उन विभूतियोंकी दिव्यता तभी प्रकट होती है, जब वह भोगबुद्धिका सर्वथा त्याग करके उन विभूतियोंमें केवल भगवान्का ही चिन्तन करता है।

शङ्का-समाधान

शङ्का—गीतामें भगवान्ने 'श्रीमत्' अर्थात् शोभा-(रूप-) को अपनी विभूति बताया है (१० । ४१)। मसारकी शोभा भगवान्की विभूति होनेसे उस शोभाको मनुष्य भोगने ल्या जाय तो क्या हानि है ? भगवान्ने रसको अपनी विभूति बताया है। (७ । ८) तो मदिरा आदि महान् अपवित्र रस पीने ल्या जाय तो क्या हानि है ? भगवान्ने घृत-क्रीडा-(जूडा-) को अपनी विभूति बताया है

(१० । ३६) तो जूआ खेलनेमें क्या हानि है ? क्योंकि यह भगवान्‌का स्वरूप है । भगवान्‌ने सात्त्विक, राजस और तामस भावोंको अपनी विभूति बताया है (७ । १२) तो तामस भावों, पदार्थों और क्रियाओंका सेवन करनेमें क्या हानि है ? तात्पर्य यह हुआ कि ये सभी भगवान्‌की विभूति होनेसे यदि मनुष्य इनका सेवन करे तो यह भगवान्‌की ही उपासना होनी चाहिये । इसमें कोई दोष या पाप कैसे लग सकता है ?

समाधान—(१) एक आचरणमें लाना होता है, (२) एक जानना होता है और (३) एक चिन्तन करना होता है । आचरणमें लानेके लिये 'क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये'—इस प्रकार अंग-अंग विधि-निषेध होता है—'तस्माच्छास्त्रप्रमाणं ने कार्याकार्यव्यवस्थितौ' (गीता १६ । २४) । विभूतियोंको आचरणमें लानेके लिये नहीं कहा गया है, प्रयुक्त इनको तत्त्वमें जाननेके लिये कहा गया है कि ये कहाँसे प्रकट होती हैं ? इनका मूल कौन है ? जिसप्रित्ति गुण, प्रमान, शोभा आदिकी विशेषताको लेकर जहाँ-जहाँ मन चला जाय, उहाँ-उहाँ उस गुण, प्रमान आदिकी विशेषताको भगवान्‌की ही विशेषता मानकर भगवान्‌का ही चिन्तन करे—'सकृन्त्ये ही विभूतियोंके वर्णनका तात्पर्य है । कारण कि ढमवे अध्यायमें अर्जुनने दो ही बातें पूछी थी—सदा चिन्तन करते हुए मैं आपको कैसे जानूँ ? और किन किन भावोंमें आपका चिन्तन करूँ ? (१० । १७) ।

जीव हाथ साक्षात् परमात्मका अंश है, पर इसने भूमे अस्त

१६० १६० साय अपना सम्बन्ध मान लिया है । अगर यह ससागं

दीखनेवाली महत्ता, विशेषता, शोभा आदिको परमात्माकी ही मानकर परमात्माका चिन्तन करेगा तो यह परमात्माकी तरफ जायगा अर्थात् इसका उद्धार हो जायगा (गीता ८ । १४), और अगर महत्ता, विशेषता, शोभा आदिको ससारकी मानकर ससारका चिन्तन करेगा तो यह ससारकी तरफ जायगा अर्थात् इसका पतन हो जायगा (गीता २ । ६२-६३)। इस वास्ते परमात्माका चिन्तन करते हुए परमात्माको तत्त्वसे जाननेके उद्देश्यसे ही इन त्रिभूतियोका वर्णन किया गया है ।

विश्वरूप-दर्शन

दसमें अध्यायमें त्रिभूतियोका वर्णन करके अन्तमें भगवान् अर्जुनके त्रिना पूछे ही अपनी तरफसे कहते हैं कि 'हे अर्जुन ! तेरेको बहुत जाननेसे क्या मतलब है ? मैं सम्पूर्ण जगत्को अर्थात् अनन्त ब्रह्माण्डको अपने किसी अंशमें व्याप्त करके स्थित हूँ ।' इसी बातको लेकर अर्जुनके मनमें विश्वरूप देखनेकी इच्छा हुई तो भगवान्ने अर्जुनको दिव्यदृष्टि देकर अपने शरीरके किसी अंशमें महान् त्रिगाल त्रिराष्ट्ररूप दिखा दिया ।* इसका वर्णन ग्यारहवें अध्यायमें हुआ है ।

* श्रीमद्भागवतमें आया है कि एक बार यशोदाजीने कन्हैयाके छोटे से मुँहमें विश्वरूप देखा । इसपर विचार किया जाय तो अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंमेंसे एक ब्रह्माण्डमें एक भूमण्डल है । उस भूमण्डलमें भारतवर्ष, भारतवर्षमें एक माथुरमण्डल, माथुरमण्डलमें एक व्रजमण्डल, व्रजमण्डलमें एक नन्दगौत्र, नन्दगौत्रमें एक नन्दभवन और नन्दभवनमें एक जगह छोटीसा कन्हैया रूढ़ा है । उस कन्हैयाको यशोदा मेया छड़ी लेकर

त्रिस्वरूपमें सनसे पहले देवरूप आया, फिर उग्ररूप और उसके बाद अत्यन्त उग्ररूप आया । अत्यन्त उग्र त्रिस्वरूपको देखकर अर्जुन भयभीत हो गये और पूछने लगे कि ऐसे अत्यन्त उग्ररूपवाले आप कौन हैं ? भगवान्ने अपना परिचय देते हुए कहा कि मैं काण्ड हूँ और सनका सहार करनेके लिये यहाँ आया हूँ । भयक साध-साध हर्षकी भी प्रशानता होनेसे अर्जुनने पहले भगवान्के अत्युग्ररूपकी स्तुति की और फिर चतुर्भुजरूप (देवरूप) दिखानेके लिये प्रार्थना की । अर्जुनकी प्रार्थनाके अनुसार भगवान्ने प्रसन्न होकर अपना चतुर्भुजरूप दिग्याया और फिर मीम्य मानुषरूप (द्विभुजरूप) से हो गये ।

त्रिस्वरूपकी दिव्यता

भगवान्का त्रिस्वरूप दिव्य है, अपिनाशी है, अक्षय है । इस त्रिस्वरूपमें अनन्त ब्रह्माण्ड हैं तथा उन ब्रह्माण्डोंकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करनेवाले ब्रह्मा, विष्णु और शिव भी अनन्त हैं* । इस

नमस्कारी है कि शूरो माटी क्या खायी ? दिग्वा अपना मुँह ! कर्देवाने अपना मुँह गोलकर दिखाया, जो उन ओट्टे से दुनमें यशोदा पैयाने गम्पूर्णजगतकी—नन्दगोवकी, नन्द नन्दभयाने अपने आपकी भी देगा—
 म्पक्षतमानम् (श्रीमद्भागवत १० स्कंध १२९) । इसी तरह अर्जुनने भी भगवान्के शरीरके (१० स्कंध १२९) रूप देगा ।

* मन्वा

न च्छाब्द !

नित्य विश्वरूपसे अनन्त विश्व (ब्रह्माण्ड) उत्पन्न हो-होकर उसीमें लीन होते रहते हैं, पर यह विश्वरूप अव्यय होनेसे ज्यों-का-त्यों ही रहता है । यह विश्वरूप इतना दिव्य अलौकिक है कि हजारों भौतिक सूर्योत्ता प्रकाश भी इसके प्रकाशका उपमेय नहीं हो सकता (११ । १२) । इसलिये इस विश्वरूपको 'दिव्यचक्षु'के बिना कोई भी देख नहीं सकता । 'ज्ञानचक्षु'के द्वारा ससारके मूलमें सत्तारूपसे जो परमात्मत्त्व है, उसका बोध होता है और 'भावचक्षु'से ससार भगवत्स्वरूप दीखता है, पर इन दोनों ही चक्षुओसे विश्वरूपका दर्शन नहीं होता, 'चर्मचक्षु'से न तो तत्त्वका बोध होता है, न ससार भगवत्स्वरूप दीखता है और न विश्वरूपका दर्शन ही होता है, क्योंकि चर्मचक्षु प्रकृतिका कार्य है । इस वास्ते चर्मचक्षुसे प्रकृतिके स्थूल कार्यको ही देखा जा सकता है ।

वास्तवमें भगवान्‌के द्विभुज, चतुर्भुज, सहस्रभुज आदि जितने भी रूप हैं, वे सब-के-सब दिव्य और अव्यय हैं । इसी तरह भगवान्‌के सगुण-निराकार, निर्गुण-निराकार, सगुण-साकार आदि जितने रूप हैं, वे सब-के-सब भी दिव्य और अव्यय हैं ।

माधुर्य-लीलामें तो भगवान्‌ द्विभुजरूप ही रहते हैं, परन्तु जहाँ अपना कुछ ऐश्वर्य दिखानेकी आवश्यकता होती है, वहाँ भगवान्‌ पात्र, अधिकार, भाव आदिके भेदसे अपना विराटरूप भी दिखा देते हैं । जैसे, भगवान्‌ने अर्जुनको मनुष्यरूपमें प्रकट हुए अपने द्विभुजरूप शरीरके किमी अंशमें विराटरूप दिखाया है ।

त्रिश्वरूपमें सबसे पहले देवरूप आया, फिर उग्ररूप, और उसके बाद अत्यन्त उग्ररूप आया। अत्यन्त उग्र त्रिश्वरूपको देखकर अर्जुन भयभीत हो गये और पृच्छने लगे कि ऐसे अत्यन्त उग्ररूपवाले आप कौन हैं ? भगवान्ने अपना परिचय देते हुए कहा कि मैं काठ हूँ और सत्रका सहार करनेके लिये यहाँ आया हूँ। भयङ्ग साय साय हर्षकी भी प्रशानता होनेसे अर्जुनने पहले भगवान्के अत्युग्ररूपकी स्तुति की और फिर चतुर्भुजरूप (देवरूप) दिखानेके लिये प्रार्थना की। अर्जुनकी प्रार्थनाके अनुसार भगवान्ने प्रसन्न होकर अपना चतुर्भुजरूप दिखाया और फिर सौम्य मानुषरूप- (द्विभुजरूप) से हो गये।

त्रिश्वरूपकी दिव्यता

भगवान्का त्रिश्वरूप दिव्य है, अनिनाशी है, अक्षय है। इस त्रिश्वरूपमें अनन्त ब्रह्माण्ड हैं तथा उन ब्रह्माण्डोंकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करनेवाले त्रया, त्रिण्यु और शिव भी अनन्त हैं*। इस

धमकाती है कि 'तूने माटी क्या खायी ! दिखा अपना मुग्ग !' बन्दैयाने अपना मुग्ग तोलकर दिखाया तो उस छोटे से मुग्गम यज्ञोदा मैदाने सम्पूर्ण जगत्को—नन्दगाँवको और नन्दभवनमें अपने-जापको भी देखा—
 'सहस्रत्मानम् (श्रीमद्भा० १०।८।३९)। इसी तरह अर्जुनने भी भगवान्के शरीरके किसी अंशमें सम्पूर्ण जगत्को देखा।

* सख्या चेद् रजसामक्षि विश्वाना न कदाचन।

ब्रह्मविष्णुशिवादीना तथा सख्या न विद्यते ॥

(देवीभागवत)

नित्य विश्वरूपसे अनन्त विश्व (ब्रह्माण्ड) उत्पन्न हो-होकर उसीमें लीन होते रहते हैं, पर यह विश्वरूप अव्यय होनेसे ज्यों-क्या-त्यों ही रहता है । यह विश्वरूप इतना दिव्य अलौकिक है कि हजारों भौतिक सूर्योका प्रकाश भी इसके प्रकाशका उपमेय नहीं हो सकता (११ । १२) । इसलिये इस विश्वरूपको 'दिव्यचक्षु'के बिना कोई भी देख नहीं सकता । 'ज्ञानचक्षु'के द्वारा सत्ताके मूलमें सत्तारूपसे जो परमात्मतत्त्व है, उसका बोध होता है और 'भासचक्षु'से संसार भगवत्स्वरूप दीप्तता है, पर इन दोनों ही चक्षुओंसे विश्वरूपका दर्शन नहीं होता, 'चर्मचक्षु'से न तो तत्त्वका बोध होता है, न सत्ता भगवत्स्वरूप दीप्तता है और न विश्वरूपका दर्शन ही होता है, क्योंकि चर्मचक्षु प्रकृतिका कार्य है । इस वास्ते चर्मचक्षुमें प्रकृतिके स्थूल कार्यको ही देखा जा सकता है ।

वास्तवमें भगवान्‌के द्विभुज, चतुर्भुज, सहस्रभुज आदि जितने भी रूप हैं, वे सब-के-सब दिव्य और अव्यय हैं । इसी तरह भगवान्‌के सगुण-निराकार, निर्गुण निराकार, सगुण-साकार आदि जितने रूप हैं, वे सब-के-सब भी दिव्य और अव्यय हैं ।

माधुर्य-लीलामें तो भगवान् द्विभुजरूप ही रहते हैं, परन्तु जहाँ अपना कुछ ऐश्वर्य दिखानेकी आवश्यकता होती है, वहाँ भगवान् पात्र, अधिकार, भाग आदिके भेदसे अपना विराटरूप भी दिखा देते हैं । जैसे, भगवान्‌ने अर्जुनको मनुष्यरूपसे प्रकट हुए अपने द्विभुजरूप शरीरके किमी अंशमें विराटरूप दिखाया है ।

भगवान्में अनन्त असीम ऐश्वर्य, माधुर्य, सौन्दर्य, औदार्य आदि दिव्य गुण हैं। उन अनन्त दिव्य गुणोंके सहित भगवान्का निश्चरूप है। भगवान् जिस-फ़िमीको ऐसा निश्चरूप दिखाते हैं, उसे पहले दिव्यदृष्टि देते हैं। दिव्यदृष्टि देनेपर भी वह जैसा पात्र होता है, जैसी योग्यता और रुचिग्राह्य होता है, उसीके अनुसार भगवान् उसको अपने निश्चरूपके स्तरोका दर्शन कराते हैं। यहाँ ग्यारहवें अध्यायके पंद्रहवेंसे तीसरे श्लोकतक भगवान् निश्चरूपसे अनेक स्तरोंसे प्रकट होते गये, जिसमें पहले देवरूपकी (११।१५-१८), फिर उग्ररूपकी (११।१९-२२) और उसके बाद अयुग्ररूपकी (११।२३-३०) प्रकटता रही। अयुग्ररूपको देखकर जग अर्जुन भयभीत हो गये तो भगवान्ने अपने दिव्यातिदिव्य निश्चरूपके स्तरोको दिखाना बन्द कर दिया। अर्थात् अर्जुनके भयभीत होनेके कारण भगवान्ने आगे रूपोंके दर्शन नहा कराये। तात्पर्य है कि भगवान्ने दिव्य विराटरूपके अनन्त स्तरोंमेंसे उतने ही स्तर अर्जुनको दिखाये, जिसने स्तरोंको दिखानेकी आवश्यकता थी और जितने स्तर दिखानेकी अर्जुनमें योग्यता थी।

भगवान्के विराटरूपमें भूत, भविष्य और वर्तमान — ये तीनों ही काल विद्यमान हैं अर्थात् उसमें इन तीनोंका भेद नहीं है। भेद तो हमारी दृष्टिमें है। अर्जुनके सामने युद्धका जगमग था। इस कालमें भगवान्ने वर्तमानमें ही भविष्यकी बात दिखा दी अर्थात् अर्जुनकी 'हम जीतेंगे या वे जीतेंगे' — इस डब्बेके अनुसार भविष्यकी बात

दिखा दी कि आगे ऐसा-ऐसा होगा ओर यह भी दिया कि जीत तुम्हारी होगी (११।३४) ।

विश्वरूप-दर्शनकी प्रामाणिकता

कई लोग ठीक न समझनेके कारण ऐसा कहते हैं कि भगवान्-ने अर्जुनको विश्वरूप दिखाया नहीं था, प्रत्युत यह समझा दिया था कि मेरे शरीरके किमी एक अंशमें अनन्त ब्रह्माण्ड हैं । पर वास्तवमें यह बात है ही नहीं । स्वयं भगवान्ने कहा है कि 'मेरे इस शरीरमें एक जगह चराचरसहित सम्पूर्ण जगत्को अभी देख ले' (११।७) । जब अर्जुनको दिखायी नहीं दिया तो भगवान्ने कहा कि 'तू अपने उन चर्मचक्षुओंसे मेरे विश्वरूपको नहीं देख सकता, इस रास्ते में तेरेको दिव्यचक्षु देता हूँ' (११।८) । फिर भगवान्ने अर्जुनको दिव्यचक्षु देकर साक्षात् अपना विश्वरूप दिखाया । सजयने भी कहा कि 'भगवान्के शरीरमें एक जगह स्थित विश्वरूपको अर्जुनने देखा' (११।१३) । अर्जुनने भी विश्वरूपका दर्शन करते हुए कहा कि 'मैं आपके शरीरमें सम्पूर्ण प्राणियोंके समुदायको तथा ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि सगको देख रहा हूँ' (११।१५) आदि-आदि । इससे सिद्ध होता है कि भगवान्ने अर्जुनको प्रत्यक्षमें अपने विश्वरूपके दर्शन कराये थे । दूसरी बात, समझानेके लिये तो ज्ञानचक्षु होते

हैं*, पर दिव्यचक्षुसे साक्षात् दर्शन ही होते हैं । अतः भगवान्ने केवल कहकर समझा दिया हो, ऐसी बात नहीं है ।

गीताकी विभूति और विश्वरूपदर्शन

मनुष्यके अन्तःकरणमें नाशवान् ससारके ऐश्वर्य और भोगोकी महत्ता बैठी हुई है कि ये श्रेष्ठ है, सुखदायक है और हमारे लिये हितकर है । रूपयो आदिके बिना हमारा काम नहीं चलता, हम इनके ही आश्रित हैं । हम जो कुछ व्ययहार करते हैं, उसमें ये ही काम आते हैं । इनके पासमें होनेसे ही हम बड़े होते हैं ।—इस तरहमे रूपये आदि पदार्थोंमें महत्त्वबुद्धि होना महान् पतन करनेवाला है । इस महत्त्वबुद्धिको ही शास्त्रीय भाषामें गुणोका सङ्ग कहते हैं, जो बारबार ऊँच-नीच योनियोंमें जन्म देनेका कारण है—
‘कारण गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु’ (गीता १३ । २१) ।
अतः मनुष्य अवास्तनिकतामें (ससारमें) महत्त्वबुद्धि न करके वास्तनिकतामें (भगवान्में) महत्त्वबुद्धि करे—इसमें ही गीताकी विभूति और विश्वरूपदर्शनका तात्पर्य है ।

निनीत—

स्वामी रामसुखदास

* धेनक्षेत्रद्ययोरवमतर

ज्ञानचक्षुषा ।

नृतप्रवृत्तिमोक्ष च ये विदुर्याति ते परम् ॥

(गीता १३ । ३४)

यततो योगिनश्चैन पश्यत्यात्मन्यवस्थितम् ।

यततोऽप्यकृतात्मानो नैव पश्यत्यनेतस ॥

(गीता १५ । ११)



सद्यस्तुचाक सन्निवृत्तकुण्डल सप्तोवन मरणीवहेऽयम् ।

सर्वभूतहितकामविधिना विनायकः सर्वभूतम् ॥

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नम ॥

गीताकी विभूति और विश्वरूप-दर्शन

[श्रीमद्भगवद्गीताके दसवें और ग्यारहवें अध्यायोंकी
विस्तृत व्याख्या]

नारायण नमस्कृत्य नर चैव नरोत्तमम् ।
देवीं सरस्वतीं व्यास ततो जयमुदीरयेत् ॥
यसुदेवमुत देव रुसचाणूरमर्दनम् ।
देवकीपरमानन्दं कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम् ॥

अथ दशमोऽध्यायः

सम्बन्ध—

श्रीभगवान् सातवें अध्यायमें अपने हृदयकी बात—विज्ञानसहित ज्ञान कह रहे थे । जब बीचम ही आठवें अध्यायके आरम्भमें अर्जुनके प्रश्न करनेपर अपनी बात कहनेम कुठ परिवर्तन हुआ तो भगवान्ने पुन विज्ञानसहित ज्ञान कहनेके लिये नवों अध्याय आरम्भ किया और उसकी समाप्ति भगवत्परायणताम की । फिर भी भगवान्के मनमें और कहनेका भाव रहा । उह अपने कथनपर सन्तोष नहीं हुआ । जैसे सन्धे भक्तकी भगवान्की बात सुनते हुए तृप्ति नहीं होती

भी दसवें अध्यायके आरम्भमें फिर उसी विषयको कहनेकी प्रतिज्ञा करते हैं। चौदहवें अध्यायके आरम्भमें भगवान्ने 'परंभूय प्रवक्ष्यामि ज्ञानाना ज्ञानमुत्तमम्' कहा, और यहाँ (दसवें अध्यायके आरम्भमें) 'शृणु मे परम वच' कहा। इनका तात्पर्य है कि ज्ञानमार्गमें समझकी, विवेक-विचारकी मुख्यता रहती है, अतः साधक वचनोंको सुन करके विचारपूर्वक तत्त्वको समझ लेता है। इस वास्ते यहाँ 'ज्ञानाना ज्ञानमुत्तमम्' कहा है। भक्तिमार्गमें श्रद्धा-विश्वासकी मुख्यता रहती है, अतः साधक वचनोंको सुन करके श्रद्धा-विश्वासपूर्वक मान लेता है। इस वास्ते यहाँ 'परम वच' कहा है।

'यत्तेऽह प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया — सुननेवाला वक्तामें श्रद्धा और प्रेम रखनेवाला हो, और वक्ताके भीतर सुननेवालेके प्रति कृपापूर्वक हित-भावना हो तो वक्ताके वचन, उसके द्वारा कहा हुआ विषय श्रोताके भीतर अट्टलरूपसे जम जाता है। इससे श्रोताकी भगवान्में स्वतः रचि पैदा हो जाती है, भक्ति हो जाती है, प्रेम हो जाता है।

यहाँ एक शङ्का हो सकती है कि भगवान्ने गीतामें जगह-जगह कामनाका निषेध किया है, फिर यहाँ 'हितकाम्यया' पदसे स्वयं अपनेमें कामना क्यों रखते हैं ? इसका समाधान यह है कि वास्तवमें अपने लिये भोग, सुख-आराम आदि चाहना ही 'कामना' है। दूसरोंके हितकी कामना 'कामना' है ही नहीं। दूसरोंके हितकी कामना तो त्याग है और अपनी कामनाको मिटानेका मुख्य मायन है। इस वास्ते भगवान्

वको धारण करनेके लिये आदर्शरूपसे कह रहे हैं कि जैसे
 १ हितकी कामनासे कहता हूँ, ऐसे ही मनुष्यमात्रको चाहिये
 २ के वह प्राणिमात्रके हितकी कामनासे ही सबके साथ व्यवहार
 करे । इससे अपनी कामना मिट जायगी और कामना मिटनेपर
 मेरी प्राप्ति सुगमतासे हो जायगी । प्राणिमात्रके हितकी कामना
 रखनेवालेको मेरे सगुण स्वरूपकी प्राप्ति भी हो जाती है—
 'ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रता' (गीता १२ । ४),
 और निर्गुण स्वरूपकी प्राप्ति भी हो जाती है—'लभन्ते ब्रह्मनिर्वाण
 सर्वभूतहिते रता' (गीता ५ । २५) ।

सम्बन्ध—

परम वचनके विषयमें, जिसे मैं आगे कहूँगा, मेरे सिवाय
 पूरा-पूरा बतानेवाला अथ कोई नहीं मिल सकता । इसका कारण
 क्या है ? इसे भगवान् अगले श्लोकमें बताते हैं ।

श्लोक—

न मे विदुः सुरगणा प्रभव न महर्षयः ।
 अहमादिर्हि देवाना महर्षीणा च सर्वश ॥ २ ॥

अर्थ—

मेरे प्रकट होनेको न देवता जानते हैं और न महर्षि, क्योंकि
 मैं सब प्रकारसे देवताओं और महर्षियोंका आदि अर्थात् महाकारण
 हूँ ।

व्याख्या—

'न मे विदुः सुरगणा प्रभव न महर्षयः'—यद्यपि देवताओंके
 शरीर, बुद्धि, लोक, सामग्री आदि सब दिव्य हैं, तथापि वे मेरे

प्रकट होनेको नहीं जानते । तात्पर्य है कि मेरा जो निम्नरूप प्रकट होना है, मत्स्य, कच्छप आदि अन्तार-रूपसे प्रकट होना है, सृष्टिमें क्रिया, भाव और विभूतिरूपसे प्रकट होना है, ऐसे मेरे प्रकट होनेके उद्देश्यको, लक्ष्यको, हेतुओंको - देवता भी पूरा-पूरा नहीं जानते । मेरे प्रकट होनेको पूरा-पूरा जानना तो दूर रहा, उनको तो मेरे दर्शन भी बड़ी कठिनतासे होते हैं । इन्हीं वास्ते वे मेरे दर्शनके लिये हरदम लालायित रहते हैं (गी. ११।५२) ।

ऐसे ही जिन महर्षियोंने अनेक ऋचाओंको, मन्त्रोंको, विद्याओंको, विलक्षण विलक्षण शक्तियोंको प्रकट किया है, वे ससारसे ऊँचे उठे हुए हैं, जो दिव्य अनुभवसे युक्त हैं, जिनके लिये कुछ करना, जानना और पाना बाकी नहीं रहा है, ऐसे तत्त्वज्ञ जीवन्मुक्त महर्षिलोग भी मेरे प्रकट होनेको अर्थात् मेरे अवतारोंको, अनेक प्रकारकी लीलाओंको, मेरे महत्त्वको पूरा-पूरा नहीं जानते ।

यहाँ भगवान्ने देवता और महर्षि—इन दोनोंका नाम लिया है । इसमें ऐसा मालूम देता है कि ऊँचे पदकी दृष्टिसे देवताका नाम और ज्ञानकी दृष्टिसे महर्षिका नाम लिया गया है । इन दोनोंका मेरे प्रकट होनेको न जाननेमें कारण यह है कि मैं देवताओं और महर्षियोंका सब प्रकारसे आदि हूँ—‘अहमादिहि देवानामहर्षीणां च सर्वशः’ । उनमें जो कुछ बुद्धि है, शक्ति है, सामर्थ्य है, पद है, प्रभाव है, महत्ता है, यह सब उन्होंने मेरेसे ही प्राप्त

किया है। अतः मेरेसे प्राप्त किये हुए प्रभाव, शक्ति, सामर्थ्य आदिसे वे मेरेको पूरा कैसे जान सकते हैं ? अर्थात् नहीं जान सकते। जैसे बालक जिस माँसे पैदा हुआ है, उस माँके विवाहको और अपने शरीरके पैदा होनेको नहीं जानता, ऐसे ही देवता और महर्षि मेरेसे ही प्रकट हुए हैं, अतः वे मेरे प्रकट होनेको अपने कारणको नहीं जानते। कार्य अपने कारणमें लीन तो हो सकता है, पर उसको जान नहीं सकता। ऐसे ही देवता और महर्षि मेरेसे उत्पन्न होनेसे, मेरा कार्य होनेसे कारणरूप मेरेको नहीं जान सकते, प्रत्युत मेरेमें लीन हो सकते हैं।

तात्पर्य यह हुआ कि देवता और महर्षि भगवान्‌के आदिको, अतको और वर्तमानकी इयत्ताको अर्थात् भगवान् ऐसे ही हैं, इतने ही अग्रार लेने हैं—इस माप-तौलको नहीं जान सकते। कारण कि इन देवताओ और महर्षियोंके प्रकट होनेसे पहले भी भगवान् ज्यों-कै-त्यो ही थे और उनके लीन होनेपर भी भगवान् ज्यों-कै-त्यो ही रहेंगे। अतः जिनका शरीररामा आदि और अन्त होना रहता है, वे देवता और महर्षि अनादि-अनन्तको अर्थात् असीम परमात्माको अपनी सीमित बुद्धि, योग्यता, सामर्थ्य आदिके द्वारा कैसे जान सकते हैं ? असीमको अपनी सीमित बुद्धिके अन्तर्गत कैसे ला सकते हैं ? अर्थात् नहीं ला सकते।

इसी अध्यायके चौदहवें श्लोकमें अर्जुनने भी भगवान्‌से कहा है कि आपको देवता और दानव नहीं जानते, क्योंकि देवताओंके पास भोग-सामग्रीकी और दानवोंके पास माया-शक्तिकी अभिपत्ता है।

तात्पर्य है कि भोगोंमें लगे रहनेसे देवनाओंको (मेरेको जाननेके लिये) समय ही नहीं मिलता, और माया-शक्तिसे छल-कपट करनेसे दानव मेरेको जान ही नहीं सकते ।

संग्रन्ध—

पूर्वश्लोकमें कहा गया कि देवता और महर्षिलोग भी भगवान्के प्रकट होनेको सर्वथा नहीं जान सकने, तो फिर मनुष्य भगवान्को कैसे जानगा और उसका कल्याण कैसे होगा ? इसका उपाय अंगले श्लोकमें बताते हैं ।

श्लोक—

यो मामजमनाद्रि च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।

असम्मूढ स मर्त्येषु सर्वपापै प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

अर्थ—

जो मनुष्य मेरेको अजन्मा, अनादि और सम्पूर्ण लोकोका महान् ईश्वर जानता है अर्थात् दृढ़तासे मानता है, वह मनुष्योंमें असम्मूढ (जानकार) है और वह सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो जाता है ।

व्याख्या—

‘यो मामजमनाद्रि च वेत्ति लोकमहेश्वरम्—’ पिउले श्लोकमें भगवान्के प्रकट होनेको जाननेका नियम बताया है । इस नियमको तो मनुष्य भी नही जानता, पर चिन्ता जाननेमें मनुष्य अपना कल्याण कर ले, उतना तो वह जान ही सकता है । वह जानना अर्थात् मानना यह है कि भगवान् अज अर्थात् जन्मरहित

हैं। वे अनादि हैं अर्थात् यह जो काल कहा जाता है, जिसमें आदि-अनादि शब्दोक्त प्रयोग होना है, भगवान् उस कालके भी काल हैं। उन कालतीत भगवान्में कालका भी आदि और अन्त हो जाता है। भगवान् नम्पूर्ण लोकोंके महान् ईश्वर है अर्थात् स्वर्ग, पृथ्वी और पातालरूप जो त्रिलोकी है तथा उस त्रिलोकीमें जितने प्राणी हैं और उन प्राणियोंका शासन करनेवाले (अलग-अलग अधिकार-प्राप्त) जितने ईश्वर (मालिक) हैं, उन सब ईश्वरोंके भी महान् ईश्वर भगवान् हैं। इस प्रकार जाननेसे अर्थात् श्रद्धा-विश्वासपूर्वक दृढ़तासे माननेसे मनुष्यको भगवान्के अज, अग्निनाशी और लोकमहेश्वर होनेमें कभी किञ्चिन्मात्र भी सन्देह नहीं होता।

‘असम्मूढैः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते’—भगवान्को अज, अग्निनाशी और लोकमहेश्वर जाननेसे मनुष्य पापोंसे मुक्त कैसे होगा ? भगवान् ज-मरहित हैं, नाशरहित हैं अर्थात् उनमें कभी किञ्चिन्मात्र भी परिवर्तन नहीं होता। वे अज-मा तथा अग्निनाशी रहने हुए ही सबके महान् ईश्वर हैं। वे सत्र देगमें रहनेके नाते यहाँ भी हैं, सब समयमें होनेके नाते अभी भी हैं सबके होनेके नाते मेरे भी हैं, और सत्रके मालिक होनेके नाते मेरे अकेलेके भी मालिक हैं—इस प्रकार दृढ़तासे मान ले। इसमें सन्देहकी गंध भी न रहे। साथ-ही-साथ, यह जो क्षणभंगुर समार है, जिसका प्रतिक्षण परिवर्तन हो रहा है और जिसको जिस क्षणमें जिस रूपमें देखा है, उसको दूसरे क्षणमें उस रूपमें दुबारा कोई भी देख

नहीं सकता, क्योंकि वह दूसरे क्षण वैसा रहता ही नहीं—इस प्रकार ससारको यथार्थरूपसे जान ले । जिसने अपनेसहित सा ससारके मायिक भगवान्को दृढ़तासे मान लिया है और ससारकी क्षण-भङ्गुरताको तत्त्वसे ठीक जान लिया है, उसका ससारमें 'मैं' और 'मेरा' मन रह ही नहीं सकता, प्रत्युत एकमात्र भगवान्में ही अपनापन हो जाता है । तो फिर वह पापोंसे मुक्त नहीं होगा तो और क्या होगा ? ऐसा मूढ़तारहित मनुष्य ही भगवान्के तरफसे अज्ञ, अग्निनाशी और लोकमहेश्वर जानता है और वह सब पापोंसे मुक्त हो जाता है । उसके क्रियमाण, सच्चिन् आदि सम्पूर्ण कर्म नष्ट हो जाते हैं । मनुष्यको इस वास्तविकताका अनुभव करनेकी आवश्यकता है, केवल तोतेकी तरह सीखनेवाला नहीं । तोतेकी तरह सीखा हुआ ज्ञान पूरा काम नहीं देता ।

असम्मूढ़ता क्या है ? संसार (शरीर) किसीके भी माय कर्म रह नहीं सकता तथा कोई भी ससारके साथ कभी रह नहीं सकता और परमात्मा किसीसे भी कभी अलग हो नहीं सकने और कोई भी परमात्मासे कभी अलग हो नहीं सकता—यह वास्तविकता है । इस वास्तविकताको न जानना ही सम्मूढ़ता है, और इसको यथार्थ जानना ही असम्मूढ़ता है । यह असम्मूढ़ता जिसमें रहती है, वह मनुष्य असम्मूढ़ कहा जाता है । ऐसा असम्मूढ़ पुरुष मेरे सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार-रूपको तरफसे जान लेता है, तो उसे मेरी लीला, रहस्य, प्रमान, ऐश्वर्य आदिमें किञ्चिन्मात्र भी सन्देह नहीं रहता ।

सम्बन्ध—

पूर्वश्लोकमें भगवान्ने यह कहा कि जो मेरेको लोकमहेश्वर मानता है, वह सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो जाता है । अब उस लोकमहेश्वरके प्रभावका वर्णन करनेके लिये अगले तीन श्लोक हते हैं ।

श्लोक—

बुद्धिर्ज्ञानमसमोह क्षमा सत्यं दमं शमं ।
 सुख दुःख भवोऽभावो भय चाभयमेव च ॥ ४ ॥
 अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयश ।
 भवन्ति भावा भूताना मत्त एव पृथग्विधा ॥ ५ ॥

अर्थ—

बुद्धि, ज्ञान, असम्मोह, क्षमा, सत्य, दम, शम, सुख, दुःख, भय, अभाव, भय, अभय, अहिंसा, समता, तुष्टि, तप, दान, यश और अपयश—प्राणियोंके ये अनेक प्रकारके और अलग-अलग बीस भाव मेरेसे ही होते हैं ।

व्याख्या—

‘बुद्धि’—उद्देश्यको लेकर निश्चय करनेवाली वृत्तिका नाम बुद्धि’ है ।

‘ज्ञानम्’—सार-असार, ग्राह्य-अग्राह्य, नित्य-अनित्य, सत्-असत्, उचित-अनुचित, कर्तव्य-अकर्तव्य—ऐसा जो विवेक अर्थात् अलग-अलग जानकारी है, उसका नाम ‘ज्ञान’ है । यह ज्ञान (विवेक) मानवमात्रको भगवान्से मिला है ।

‘असम्मोह’—शरीर और ससारको उत्पत्ति-विनाशशील जल हुए भी उनमें ‘मै’ और ‘मेरा’-पन करनेका नाम सम्मोह है, इसके न होनेका नाम ‘असम्मोह’ है ।

‘क्षमा’—कोई हमारे प्रति कितना ही बड़ा अपराध करे, अन्तःसामर्थ्य रहते हुए भी उसे सह लेना और उस अपराधीको अपनी तन्मईश्वरकी तरफसे, यहाँ और परलोकमें कहीं भी दण्ड न मिले—एक विचार करनेका नाम ‘क्षमा’ है ।

‘सत्यम्’—सत्यस्वरूप परमात्माकी प्राप्तिके लिये सयभाष्य करना अर्थात् ‘जैसा सुना, देखा और समझा है, उमीके अनुसार अपने स्वार्थ और अभिमानका त्याग करके दूसरोंके हितके लिये न ज्यादा, न कम—वैसा-था-वैसा कह देनेका नाम ‘सय’ है ।

‘दम शम’—परमात्मप्राप्तिका उद्देश्य रखते हुए इन्द्रियोंसे अपने-अपने विषयोंसे हटाकर अपने नशमें करनेका नाम ‘दम्भ’ है और मनको सासारिक भोगोंके चिन्तनसे हटानेका नाम ‘शम’ है ।

‘सुख दुःखम्’—शरीर, मन, इन्द्रियोंके अनुकूल परिस्थिति प्राप्त होनेपर हृदयमें जो अप्रसन्नता होती है, उसका नाम ‘सुख’ है और प्रतिकूल परिस्थितिके प्राप्त होनेपर हृदयमें जो अप्रसन्नता होती है उसका नाम ‘दुःख’ है ।

‘भयोऽभावः’—सांसारिक वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति, भाव आदिके उत्पन्न होनेका नाम ‘भय’ है और इन सबके लीन होनेका नाम ‘अभाव’ है ।

‘भयं च अभयम् एव च’—अपने आचरण, भाव आदि शास्त्र और लोक-मर्यादाके विरुद्ध होनेसे अन्तःकरणमें अपना अनिष्ट होनेकी जो एक आगङ्गा होती है, उसको ‘भय’ कहते हैं। मनुष्यके आचरण, भाव आदि अच्छे हैं, वह किसीको कष्ट नहीं पहुँचाता, शास्त्र और सन्तोके सिद्धान्तसे विरुद्ध कोई आचरण नहीं करता, तो उसके हृदयमें अपना अनिष्ट होनेकी आगङ्गा नहीं रहती अर्थात् उसको किसीसे भय नहीं होता। इसीको ‘अभय’ कहते हैं।

‘अहिंसा’—अपने तन, मन, वाणीसे किसी भी देश, काल, परिस्थिति आदिमें किसी भी प्राणीको किञ्चिन्मात्र भी दुःख न देनेका नाम ‘अहिंसा’ है।

‘समता’—तरह-तरहकी अनुकूल और प्रतिकूल वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति आदिके प्राप्त होनेपर भी अपने अन्तःकरणमें कोई विषमता न आनेका नाम ‘समता’ है।

‘तुष्टि’—आश्रय्यप्रता ज्यादा रहनेपर भी कम मिले तो उसमें सतोष करना तथा और मिले—ऐसी इच्छाका न रहना ‘तुष्टि’ है। तात्पर्य है कि मिले अथवा न मिले, कम मिले अथवा ज्यादा मिले आदि हर हालतमें प्रमत्त रहना ‘तुष्टि’ है।

‘तपः’—अपने कर्तव्यका पालन करते हुए जो कुछ कष्ट आ जाय, प्रतिकूल परिस्थिति आ जाय, उन सबको प्रसन्नतापूर्वक सहनेका नाम ‘तपः’ है। एकादशी व्रत आदिका नाम भी तपः है।

‘दानम्’—प्रयुपकार और फलकी किञ्चिन्मात्र भी इच्छा न

रखकर प्रसन्नतापूर्वक अपनी कमाईका हिस्सा सत्पात्रको देनेका नाम 'दान' है* ।

'यशोऽयश'—मनुष्यके अच्छे आचरणों, भावों और गुणोंको लेकर सत्सारमें जो नामकी प्रसिद्धि, प्रशंसा आदि होते हैं, उनका नाम 'यश' है । मनुष्यके बुरे आचरणों, भावों और गुणोंको लेकर सत्सारमें जो नामकी निन्दा होती है, उसको 'अयश' (अपयश) कहते हैं ।

'भवन्ति भावा भूताना मत्त एव पृथग्विधा'—प्राणियोंके ये पृथक्-पृथक् और अनेक तरहके भाव मेरेसे ही होते हैं अर्थात् उन सबको सत्ता, सृष्टि, शक्ति, आधार और प्रकाश मुझ लोकमहेश्वरसे ही मिलता है । तात्पर्य है कि तत्त्वसे सबके मूलमें मैं ही हूँ ।

यहाँ 'मत्त' पदसे भगवान्का योग, सामर्थ्य, प्रभाव और 'पृथग्विधा' पदसे अनेक प्रकारकी अलग-अलग विभूतियाँ जाननी चाहिये ।

सत्सारमें जो कुछ विहित हो रहा है, निषिद्ध हो रहा है, शुभ हो रहा है, अशुभ हो रहा है, और सत्सारमें जितने सद्भाव तथा दुर्भाव हैं, वह सबकी-सब भगवान्की लीला है—इस प्रकार भक्त भगवान्को तत्त्वसे समझ लेता है तो उसका भगवान्में अविनाश्य (अविच्छेद) योग हो जाता है (गीता १०।७) ।

* दातव्यमिति यद्दान दीयतेऽनुपकारिणे ।

यहाँ प्राणियोंके जो बीस भाव बताये गये हैं, उनमें बारह भाव तो एक-एक हैं और वे सभी अन्त करणमें उत्पन्न होनेवाले हैं, और भयके साथ आया हुआ अभय भी अन्त करणमें पैदा होनेवाला भाव है तथा वचे हुए सात भाव परस्परविरोधी हैं। उनमेंसे भय (उत्पत्ति), अभाव, यश और अयश—ये चार तो प्राणियोंके पूर्वकृत कर्मके फल हैं और सुख, दुःख तथा भय—ये तीन मूर्खताके फल हैं। इस मूर्खताको मनुष्य मिटाने सकता है।

यहाँ प्राणियोंके बीस भावोंको अपनेसे पैदा हुए और अपनी विभूति बतानेमें भगवान्का तात्पर्य है कि इन सबके मूलमें मैं ही हूँ, ये सभी मेरेसे ही होते हैं और मेरेसे ही सत्ता-स्फूर्ति पाते हैं। सातवें अध्यायके बारहवें श्लोकमें भी भगवान्ने 'मत्त एव' पदोंसे बताया है कि सात्त्विक, राजस और तामस भाव मेरेसे ही होते हैं अर्थात् उनके मूलमें मैं ही हूँ, वे मेरेसे ही होते हैं और मेरेसे ही सत्ता-स्फूर्ति पाते हैं।

आगे इसी अध्यायके सातवें श्लोकमें इसको जाननेका फल बताते हैं कि जो इसको तत्त्वसे जानता है, उसकी मेरेमें दृढ भक्ति हो जाती है। अतः यहाँ भी भगवान्का आशय साधककी दृष्टि विभूतियोंके मूल तत्त्वकी तरफ करानेमें ही है।

विशेष बात

साधक ससारको कैसे देखे : ऐसे देखे कि ससारमें जो कुछ क्रिया, पदार्थ, घटना आदि है, यह सब भगवान्का रूप है। चाहे

उत्पत्ति हो, चाहे प्रव्य हो, चाहे अनुकूलता हो, चाहे प्रति कूलता हो, चाहे अमृत हो, चाहे वृषु हा, चाहे स्वर्ग हो, चाहे नरक हो, यह सब भगवान्की लीला है । भाग्यपुरी की लीला में बालकाण्ड भी है, अयोध्याकाण्ड भी है, अरण्यकाण्ड भी है और लज्जाकाण्ड भी है । पुरियोंमें देखा जाय तो अयोध्यापुरीमें भगवान्का प्राकट्य है, राजा, रानी और प्रजाका वात्सल्यभाव है । जनकपुरीमें राजा जनक, महारानी सुनयना और प्रजाके रामजीके प्रति प्रियदर्शन विलक्षण भाव हैं । वे रामजीको दानादरूपसे खिलाते हैं, खेलते हैं, प्रिनोद करते हैं । उनमें (अरण्यकाण्डमें) भक्तोंका मिलना भी है और राक्षसोंका मिलना भी । लज्जापुरीमें युद्ध होता है, मार-काट होती है, लूणकी नदियाँ बहती हैं । इस तरह अलग-अलग पुरियोंमें अलग-अलग काण्डोंमें भगवान्की तरह-तरहकी लीला होती है । परन्तु तरह-तरहकी लीला होते हुए भी रामायण एक है, और ये सभी लीलाएँ एक ही रामायणके अङ्ग हैं, तथा इन अङ्गोंसे रामायण साङ्गोपाङ्ग है । ऐसे ही मसार में प्राणियोंके तरह-तरहके भाव हैं, क्रियाएँ हैं । कहींपर कोई हँस रहा है तो कहींपर कोई रो रहा है, कहींपर विद्वद्गोष्ठी हो रही है तो कहींपर आपसमें लड़ाई हो रही है, कोई जन्म रहा है तो कोई मर रहा है आदि-आदि जो विविध भौतिकी चेष्टाएँ हो रही हैं, यह सब भगवान्की लीला है । ये लीला करनेवाले सब भगवान्के रूप हैं । इस प्रकार भक्तकी दृष्टि हरदम भगवान्पर ही रहनी चाहिये, क्योंकि इन सबके मूल्य एक परमात्मत्व ही है ।

सम्बन्ध—

पूर्वश्लोकोंमें भगवानून प्राणियाँक भाव-रूपसे बीस विभूतियाँ बतायीं । अब अगले श्लोकमें व्यक्ति-रूपसे पचास विभूतियाँ बता रहे हैं, जो कि प्राणियोंमें विशेष प्रभावशाली और जगत्के कारण हैं ।

श्लोक—

महर्षय सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।

मद्भावा मानसा जाता येषा लोका इमा प्रजा ॥ ६ ॥

अथ—

सात महर्षि और उनसे भी पूर्वमें होनेवाले चार सनकादि तथा चौदह मनु—ये सत्र-के-सत्र मेरे मनसे पैदा हुए हैं और मेरेमें भाव (श्रद्धा-भक्ति) रखनेवाले हैं, जिनकी कि ससारमें यह सम्पूर्ण प्रजा है ।

व्याख्या—

‘महर्षय सप्त’—जो दीर्घ आयुवाले, मन्त्रोंको प्रकट करनेवाले, ऐश्वर्यवान्, दिव्य, दृष्टिवाले, गुण, विद्या आदिसे वृद्ध, धर्मका साक्षात् करनेवाले, और गोत्रोंके प्रवर्तक हैं—ऐसे सातो गुणोंसे युक्त ऋषि सप्तर्षि कहे जाते हैं* । मरीचि, अङ्गिरा, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और असिष्ठ—ये सातो ऋषि सातों ही गुणोंसे युक्त हैं । ये सातो ही वेदवेत्ता हैं, वेदोंके आचार्य माने गये हैं, प्रवृत्ति-धर्मका संचालन

* सप्तैते सप्तभिश्चैव गुणै सप्तयय स्मृता ॥

दीर्घायुषो म नवृत्त इक्षरा दिव्यचक्षुष ।

वृद्धाः प्रत्यक्षधर्माणो गोत्रप्रवर्तकाश्च ये ॥

(वायुपुराण ६१ । ९३-९४)

करनेवाले हैं और प्रजापतिके कार्यमें नियुक्त किये गये हैं* । इन्हें सात ऋषियोंको यहाँ 'महर्षि' कहा गया है ।

'पूर्व चत्वार'—सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार—ये चारों ही ब्रह्माजीके तप करनेपर सबसे पहले प्रकट हुए हैं ये चारों भगवत्स्वरूप हैं । सबसे पहले प्रकट होनेपर भी ये चारों सदा पाँच वर्षकी अवस्थावाले बालकरूपमें ही रहते हैं । ये तीनों लोकमें भक्ति, ज्ञान और वैराग्यका प्रचार करते हुए घूमते रहते हैं । इनकी वाणीसे सदा 'हरि शरणम्' का उच्चारण होता रहता है† । ये भगवत्कथाके बहुत प्रेमी हैं । इस वास्ते इन चारोंमेंसे एक वक्ता और तीन श्रोता बनकर भगवत्कथा करते और सुनते रहते हैं ।

'मनवस्तथा'—ब्रह्माजीके एक दिन (कल्प) में चौदह मनु होते हैं । ब्रह्माजीके वर्तमान कल्पके स्वायम्भुव, स्वारोचिय, उत्तम, तामस, रैवत, चाक्षुष, वैवस्वत, सात्रिणि, दक्षसात्रिणि, प्रहस्तावर्णि, धर्मसावर्णि, रुद्रसात्रिणि, देवसात्रिणि और इन्द्रसात्रिणि नामवाले चौदह

० मरीचिरङ्गिराश्चाथि पुलस्त्य पुलद क्रतु ।

वसिष्ठ इति सप्तैते मानवा निर्मिता हि ते ॥

एते वेदविदो मुख्या वेदाचायाश्च कल्पिता ।

प्रवृत्तिर्भूमिणश्चैव प्राक्काल्ये च कल्पिता ॥

(महा० शान्ति० २४७ । ६९-७०)

† हरि. शरणमेव हि नित्यं येना मुखे वच ।

(पद्मपुराणोक्त भीमद्वागवत-माहात्म्य २ । ६८)

मनु हैं* । ये सभी ब्रह्माजीकी आज्ञासे सृष्टिके उत्पादक और प्रवर्तक हैं ।

‘मानसा जाता’—मात्र सृष्टि भगवान्‌के सकल्पसे पैदा होती है । परन्तु यहाँ सप्तर्षि आदिको भगवान्‌के मनसे पैदा हुआ कहा है । इसका कारण यह है कि सृष्टिका विस्तार करनेवाले होनेसे सृष्टिमें इनकी प्रधानता है । इस वास्ते यहाँ इनका नाम लिया गया है । दूसरा कारण यह है कि ये सभी ब्रह्माजीके मनसे अर्थात् सकल्पसे पैदा हुए हैं । स्वयं भगवान् ही सृष्टि-रचनाके लिये ब्रह्मारूपसे प्रकट हुए हैं । इस वास्ते सात महर्षि, चार सनकादि और चौदह मनु—इन पचीसोको ब्रह्माजीके मानस पुत्र कहें अथवा भगवान्‌के मानस पुत्र कहें, एक ही बात है ।

‘भङ्गावा —ये सभी मेरेमें ही भाग—श्रद्धा-प्रेम रखनेवाले हैं ।

‘येषा लोरुमिमा प्रजा’—सप्तारमें दो तरहकी प्रजा है—स्त्री-पुरुषके सयोगसे उत्पन्न होनेवाली और शब्दसे (दीक्षा, मन्त्र आदिसे) उत्पन्न होनेवाली । सयोगसे उत्पन्न होनेवाली प्रजा ‘विन्दुज’ कहलाती है और शब्दसे उत्पन्न होनेवाली प्रजा ‘नादज’

* (श्रीमद्भागवतके आठवें स्कन्धके पहले, पाँचवें और तेरहवें अध्यायमें इनका विस्तारसे वर्णन आया है ।)

ब्रह्माजीका एक दिन एक हजार चतुर्युगीका होता है । उसमें एक मनुका राज्य इकहत्तर चतुर्युगीसे कुछ ज्यादा समयका माना गया है । इस समय ब्रह्माजीकी आयुका इक्यावनवाँ वर्ष चल रहा है, और इसमें सातवें मनु (वैवस्वत) का राज्य चल रहा है ।

कहलाती है। प्रिन्दुज प्रजा पुन-परम्परासे और नादज प्रजा शिव परम्परासे चरती है।

सनकादिकोकी प्रजा 'नादज' है। निवृत्तिपरायण होनेवाले जिन सन्त-महापुरुष पहले हुए हैं, अभी हैं और आगे होंगे, वे स उपलक्षणसे उनही ही 'नादज' प्रजा हैं।

सम्यग्—

चौथेसे छठे श्लोकतक प्राणियोंके भावों तथा व्यक्तियोंके रूप अपनी विभूतियोंका और अपने योग-प्रभाषका वर्णन करके आ भगवान् अगले श्लोकमें उनको तत्त्वसे जाननेका फल बताते हैं।

श्लोक—

एता विभूतिं योग च मम यो वेत्ति तत्त्वतः ।

सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥ ७ ॥

अर्थ—

जो मनुष्य मेरी इस विभूतिको और योगको तत्त्वसे जानन अर्थात् मानता है, वह अविचल भक्तियोगसे युक्त हो जाता है, इसमें कुछ भी संशय नहीं है।

व्याख्या—

'एता विभूतिं योगं च मम'—'एताम्' सर्वनाम अयन्त

* यहाँ जो 'योग' शब्द आया है, वह 'पुनः समयने' धातुमे बना हुआ है, क्योंकि सम्पूर्ण संसारका समयन भाग्य ही करते हैं। ऐसे तो यमराज भी प्राणियोंके पाप पुण्योंके अनुसार उनका समयन करता है, परन्तु वह तो एक मृत्युलोकके प्राणियोंका ही समयन करता है, जबकि

नजदीकका लक्ष्य करता है। यहाँ यह शब्द चौथेसे छठे श्लोकतक कही हुई विभूति और योगका लक्ष्य करता है।

‘विभूति’ नाम भगवान्‌के ऐश्वर्यका है और ‘योग’ नाम भगवान्‌की अलौकिक विलक्षण शक्ति, अनन्त सामर्थ्यका है। तात्पर्य यह हुआ कि भगवान्‌की शक्तिका नाम ‘योग’ है और उस योगसे प्रकट होनेवाली विशेषताओका नाम ‘विभूति’ है। चौथेसे छठे श्लोकतक कही हुई भाव और व्यक्तिके रूपमें जितनी विभूतियाँ हैं, वे तो भगवान्‌के सामर्थ्यसे, प्रभावसे प्रकट हुई विशेषताएँ हैं, और ‘मेरेसे पैदा होते हैं’ (‘भक्त’, ‘मानसा जाता’)—यह भगवान्‌का योग है, प्रभाव है। इसीको नवें अध्यायके पाँचवें श्लोकमें ‘पश्य मे योगमैश्वरम्’ (मेरे इस ईश्वरीय योगको देख) पदसे कहा गया है*। ऐसे ही आगे ग्यारहवें अध्यायके आठवें श्लोकमें

भगवान् अनन्त ब्रह्माण्डोंका तथा उनमें अलग अलग नियुक्त किये हुए यमगर्जाका भी सयमन करते हैं। इस सयमन करनेकी शक्तिका नाम ही यहाँ योग है, सामर्थ्य है, प्रभाव है और यह योग सामर्थ्य, प्रभाव केवल भगवान्‌में ही होता है। ऐसा योग जीवन्मुक्त महापुरुषोंमें और योगियोंमें भी नहीं होता, तो फिर सामान्य जीवोंमें तो हो ही कैसे सकता है ? यह तो केवल भगवान्‌में ही है।

* मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।

मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थित ॥

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।

भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावन ॥

(गीता ९।४५)

—मैं ससारमें हूँ और ससार मेरेमें है, तथा मैं ससारमें नहीं हूँ और ससार मेरेमें नहीं है अर्थात् ससाररूपसे केवल मैं ही मैं हूँ, मेरे इस ईश्वरीय योगको देख ।

भगवान्पर ही जानी चाहिये कि उसमें जो कुछ विशेषता है, वह भगवान्की ही है, वस्तु, व्यक्ति, क्रिया आदिकी नहीं।

ससारमें क्रिया और पदार्थ निरन्तर परिवर्तनशील हैं। इनमें जो कोई विशेषता दीखती है, वह स्थायीरूपसे व्यापक परमात्माकी ही है। जहाँ-जहाँ विलक्षणता, अत्राक्रियता आदि दीखे, वहाँ-वहाँ वस्तु, व्यक्ति आदिकी ही विलक्षणता माननेसे मनुष्य उमीमें उलझ जाता है और मिलना कुछ नहीं। कारण कि वस्तुओंमें जो विलक्षणता दीखती है, वह उस अपरिवर्तनशील परमात्मतत्त्वकी ही झलक है, परिवर्तनशील वस्तुकी नहीं। इस प्रकार उस मूल तत्त्वकी तरफ दृष्टि जाना ही उसे तत्त्वसे जानना—मानना है।

यहाँ जो विभूतियोंका वर्णन किया गया है, इसका तात्पर्य इनमें परिपूर्णरूपसे व्यापक परमात्माके ऐश्वर्यसे है। विभूतियोंके रूपमें प्रकट होनेवाला ऐश्वर्यमात्र परमात्माका है। वह ऐश्वर्य प्रकट हुआ है परमात्माकी योगशक्तिसे। इसलिये जिस किसीमें जहाँ-वहाँ विलक्षणता दिखायी दे, वह विलक्षणता भगवान्की योगशक्तिसे प्रकट हुए ऐश्वर्य- (विभूति-) की है, न कि उस वस्तुकी। इस प्रकार योग और विभूति परमात्माकी हैं, तथा उम योग और विभूतियोंको तत्त्वसे जाननेका तात्पर्य यह हुआ कि उसमें विलक्षण परमात्माका है। अतः दृष्टान्ती दृष्टि केवल उम परमात्माकी तरफ ही जानी चाहिये। यही इनको तत्त्वसे जानना अर्थात् मानना है। *

१० भक्तिका प्रकटन होनेसे यहाँ 'तत्त्वत वेत्ति' (तत्त्वत जानना) अथ 'तत्त्वत मानना' ही लेना चाहिये। कारण कि यहाँ, भगवान्से

‘सोऽविकल्पेन योगेन युज्यते — उसकी मेरेमें दृढ़ भक्ति हो जाती है । दृढ़ कहनेका तात्पर्य है कि उसकी मेरे सिवाय कहीं भी, किञ्चित् भी महत्प्रयुद्धि नहीं होती । अतः उसका आकर्षण दूसरेमें न होकर एक मेरेमें ही होता है ।

‘नात्र सशयः’—इसमें कोई सन्देहकी बात नहीं—ऐसा कहनेका तात्पर्य है कि अगर उसको कहीं भी, किञ्चिन्मात्र भी सन्देह होता है तो उसने मेरेको तत्त्वसे नहीं माना है । कारण कि उसने मेरे योगको अर्थात् विलक्षण प्रभावको और उसमें उत्पन्न होनेवाली विभूतियोंको (ऐश्वर्यको) मेरेसे अलग मानकर महत्त्व दिया है ।

‘तत्त्वत वेत्ति’ का फल अपनेमें दृढ़ भक्ति होना बताया है, और अगले श्लोकमें भी ‘ससारमात्रका मूल कारण मैं ही हूँ और सब ससार मेरेमें ही चेष्टा करता है, ऐसा मानकर (इति मत्वा) भजन करनेकी बात कही है ।

जैसे जानना दृढ़ होता है, ऐसे ही मानना भी दृढ़ होता है अर्थात् दृढ़ मान्यता तत्त्वज्ञानकी तरह ही फल देती है । जैसे, ‘मैं हिन्दू हूँ’, ‘मैं अमुक वर्णवाला हूँ’ आदि मान्यताओंको जगतक, स्वयं नहीं छोड़ता, तदनुक ये मायताएँ छूटती नहीं । इसी तरह ‘इन मन विभूतियाँके मूलम भगवान् ही हैं, यह मायता कभी मिटती नहीं । वर्ण, सम्प्रदाय आदिकी मान्यता सच्ची नहीं है, प्रत्युत शरीरको लेकर हानसे प्राकृत है और मिटनेवाली है । परन्तु ‘सबके मूलम परमात्मा ’ य’ मायता सच्ची है, वास्तविक है । इस वास्ते यह मान्यता कभी मिटती नहीं, प्रत्युत ज्ञान (तत्त्वसे जानना) में परिणत होकर ज्ञानस्वरूप हो जाता है ।

मेरेको तत्त्वसे जान लेनेके बाद उसके सामने लौकिक दृष्टिसे किसी तरहकी प्रिलक्षणता आ जाय, तो वह उसपर प्रभाव नहीं डाल सकेगी। उसकी दृष्टि उस प्रिलक्षणताकी तरफ न जाकर मेरी तरफ ही जायगी। इस वास्ते उसकी 'मेरेमें' स्वाभाविक ही दृढ़ भक्ति होती है।

सम्यग्—

पूर्वश्लोकमें भगवान्ने बताया कि मेरी विभूति और योगको तत्त्वसे जाननेवाला अविचल भक्तिसे युक्त हो जाता है। अतः= विभूति और योगको तत्त्वसे जानना क्या है? इसका विवेचन अगले श्लोकमें करते हैं।

श्लोक—

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्त सर्वे प्रवर्तते ।
इति मत्वा भजन्ते मां युधा भावसमन्विता ॥ ८ ॥

अर्थ—

मैं ससारमात्रका प्रभव अर्थात् मूल कारण हूँ, और मेरेसे ही सारा ससार प्रवृत्त हो रहा है अर्थात् चेटा कर रहा है—ऐसा मेरेको मानकर मेरेमें ही श्रद्धा-प्रेम रागते हुए बुद्धिमान् भक्त मेरा ही भजन करते हैं—सब प्रवृत्तसे मेरे ही शरण होते हैं।

व्याख्या—

[पिछले श्लोककी बात ही इस श्लोकमें कही है। 'अहं सर्वस्य प्रभवः' में 'सर्वस्य' भगवान्की विभूति है अर्थात् सुनने, समझनेमें जो कुठ आ रहा है, यह सबकी-सब।

भगवान्की विभूति ही है। 'मत्त सर्वे प्रवर्तते' में 'मत्त' भगवान्का योग है, प्रभाव है, जिससे सभी विभूतियाँ प्रकट होती हैं। सातवें, आठवें और नवें अध्यायमें जो कुछ कहा गया है, वह सबका-सब इस श्लोकके पूर्वार्धमें आ गया है।]

'अह सर्वस्य प्रभव'—मानस, नादज, त्रिन्दुज, उद्भिज्ज, जरायुज, अण्डज, स्वेदज अर्थात् जड़-चेतन, स्थावर-जङ्गम यान्मात्र जितने प्राणी पैदा होते हैं, उन सबकी उत्पत्तिके मूलमें परमपिता-परमेश्वरके रूपमें मैं ही हूँ* ।

यहाँ 'प्रभव' का तात्पर्य है कि मैं सबका 'अभिन्ननिमित्तोपादान-कारण' हूँ अर्थात् स्वयं मैं ही सृष्टिरूपसे प्रकट हुआ हूँ ।

'मत्त सर्वे प्रवर्तते'—ससारमें उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय, पालन, संरक्षण आदि जितनी भी चेष्टाएँ होती हैं, जितने भी कार्य होते हैं, वे सब मेरेसे ही होते हैं। मूलमें उनको सत्-स्फूर्ति आदि जो कुठ मिलता है, वह सब मेरेसे ही मिलता है। जैसे मिजलीकी शक्तिसे सब कार्य होते हैं, ऐसे ही ससारमें जितनी क्रियाएँ होती हैं, उन सबका मूल कारण मैं ही हूँ ।

'अह सर्वस्य प्रभवो मत्त सर्वे प्रवर्तते'—महनेका तात्पर्य है कि सागककी दृष्टि प्राणिमात्रके भाग, आचरण, क्रिया आदि-

* जैसे सातवें अध्यायके छठे श्लोकमें भगवान्ने अपनेको अपरा और परा प्रकृतिका कारण बताया है और चौदहवें अध्यायके चौथे श्लोकमें अपनेको बीज प्रदान करनेवाला पिता बताया है, वैसे ही यहाँ भगवान्ने अपनेको सबका उत्पादक बताया है ।

की तरफ न जानर इन सन्के मूलमें स्थित भगवान्की तरफ ही जानी चाहिये । कार्य, कारण, भाव, क्रिया, वस्तु, पदार्थ, व्यक्ति आदिके मूलमें जो तरफ है, उसकी तरफ ही भक्तोकी दृष्टि रहनी चाहिये ।

सातवें अध्यायके सातवें तथा बारहवें श्लोकमें और दसवें अध्यायके पाँचवें ओर इस (आठवें) श्लोकमें 'मत्त' पद बार-बार कहनेका तात्पर्य है कि ये भाव, क्रिया, व्यक्तियाँ आदि सब भगवान्से ही पदा होते हैं, भगवान्में ही स्थित रहते हैं और भगवान्में ही लीन हो जाते हैं । इस वास्ते तत्वसे सब कुछ भगवान्स्वरूप ही है—इस बातको जान लें अथवा मान लें तो भगवान्के साथ अविक्त्य (कभी विचित्र न क्रिया जानेवाला) योग अर्थात् सम्बन्ध हो जायगा ।

यहाँ 'सर्वम्य' ओर 'सर्वम्'—दो बार 'सर्व' पद देनेका तात्पर्य है कि भगवान्के सिवाय इस सृष्टिका न कोई उत्पादक है और न कोई संचालक है । इस सृष्टिके उत्पादक और संचालक केवल भगवान् ही हैं ।

'इति मत्या भावसमन्विता — भगवान्से ही सब ससारकी उत्पत्ति होती है और सारे ससारको सत्ता-रक्षति भगवान्से ही मिलती है अर्थात् स्थूल, सूक्ष्म और कारणरूपसे सब कुछ भगवान् ही है—ऐसा जो दृढ़तासे मान लें हैं, वे भगवान् ही सर्वोपाधि हैं, भगवान्के समान कोई दूसरा नहीं, वे नहीं और होगा नहीं, तब ऐसा होना सम्भव है ।

हो जाते हैं। इस प्रकार जब उनकी महत्प्रबुद्धि केवल भगवान्में हो जाती है, तो फिर उनका आकर्षण, श्रद्धा, विश्वास, प्रेम आदि सब भगवान्में ही हो जाते हैं। भगवान्का ही आश्रय लेनेसे उनमें समता, निर्भेदता, निःशयता, निश्चितता, निर्भयता आदि स्वतः-स्वाभाविक ही आ जाते हैं। कारण कि जहाँ देव (परमात्मा) होते हैं, वहाँ द्रवी-सम्पत्ति स्वाभाविक ही आ जाती है।

‘बुधा’—भगवान्के सिवाय अन्यकी सत्ता ही न मानना, भगवान्को ही सबके मूखमें मानना, भगवान्का ही आश्रय लेकर उनमें ही श्रद्धा-प्रेम करना—यही उनकी बुद्धिमान्नी हैं। इस वास्ते उनको बुद्धिमान् कहा गया है। इसी बातको आगे पदद्वयमें अध्यायमें कहा है कि जो मेरेको क्षर-(ससारमात्र-) से अतीत और अक्षर-(जीवात्मा-)से उत्तम जानता है, वह सर्वप्रिय है और सब भावसे मेरा ही भजन करता है*।

‘माम् भजन्ते’—भगवान्के नामका जप-कीर्तन करना, भगवान्के रूपका चिन्तन-ध्यान करना, भगवान्की कथा सुनना, भगवत्सम्बन्धी ग्रन्थों-(गीता, गमायण, भागवत आदि) का पठन-पाठन करना—ये सब कैसे-सब भजन हैं। परन्तु असली भजन तो वह

* यसात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तम ।
 अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथित पुरुषोत्तम ॥
 यो मामेवमगममूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
 स सर्वप्रियजति मा सर्वभावेन भारत ॥

की तरफ न जाकर इन सबके मूलमें स्थित भगवान्की तरफ ही जानी चाहिये । कार्य, कारण, भाव, क्रिया, वस्तु, पदार्थ, व्यक्ति आदिके मूलमें जो तरफ है, उमकी तरफ ही भक्तोंकी दृष्टि रहनी चाहिये ।

सातवें अध्यायके सातवें तथा बारहवें श्लोकमें और दसवें अध्यायके पाँचवें ओर इस (आठवें) श्लोकमें 'मत्त' पद बार-बार कहनेका तात्पर्य है कि ये भाव, क्रिया, व्यक्तियाँ आदि सब भगवान्से ही पटा होते हैं, भगवान्में ही स्थित रहते हैं और भगवान्में ही लीन हो जाते हैं । इस वास्ते तत्त्वसे सब कुछ भगवान्स्वरूप ही है—इस बातको जान ले अथवा मान लें तो भगवान्के साथ अतिक्रम्य (कभी विचरित न किया जानेवाला) योग अर्थात् सम्बन्ध हो जायगा ।

यहाँ 'सर्वस्य' और 'सर्वम्'—दो बार 'सर्व', पद देनेका तात्पर्य है कि भगवान्के सिवाय—इस सृष्टिका न कोई उत्पादक है और न कोई संचालक है । इस सृष्टिके उत्पादक और संचालक केवल भगवान् ही हैं ।

'इति मत्वा भावसमन्विता'—भगवान्से ही सब ससारकी उत्पत्ति होती है और सारे ससारको सत्ता-रक्षति भगवान्से ही मिलती है अर्थात्-स्थूल, सूक्ष्म-और कारण-रूपसे सब कुछ भगवान् ही है—ऐसा जो दृढ़तामें मान लेते हैं, वे 'भगवान् ही सर्वोपरि हैं, भगवान्के समान कोई हुआ नहीं, है नहीं और होगा नहीं, तथा ऐसा होना सम्भव भी नहीं'—एसे सर्वोच्च भावसे युक्त

हो जाते हैं। इस प्रकार जब उनकी महत्प्रवृद्धि केवल भगवान्में हो जाती है, तो फिर उनका आर्पण, श्रद्धा, विश्वास, प्रेम आदि सब भगवान्में ही हो जाते हैं। भगवान्का ही आश्रय लेनेसे उनमें समता, निम्कारता, निशेयता, निश्चितता, निर्भयता आदि स्वतः-स्वाभाविक ही आ जाते हैं। कारण कि जहाँ देव (परमात्मा) होते हैं, वहाँ देवी-सम्पत्ति स्वाभाविक ही आ जाती है।

‘बुधा’—भगवान्के सिवाय अन्यकी सत्ता ही न मानना, भगवान्को ही सबके मूमे मानना, भगवान्का ही आश्रय लेकर उनमें ही श्रद्धा-प्रेम करना—यही उनकी बुद्धिमानी है। इस वास्ते उनको बुद्धिमान् कहा गया है। इसी बातको आगे पट्टहमें अध्यायमें कहा है कि जो मेरेको क्षर- (ससारमात्र-) से अतीत और अक्षर- (जीवात्मा-) से उत्तम जानता है, वह सर्ववित् है और सब भावसे मेरा ही भजन करता है*।

‘माम् भजन्ते’—भगवान्के नामका जप-कीर्तन करना, भगवान्के रूपका चिन्तन-ध्यान करना, भगवान्की कथा सुनना, भगवत्सम्बन्धी ग्रन्थों (गीता, रामायण, भागवत आदि) का पठन-पाठन करना—ये सब-के-सब भजन हैं। परन्तु असली भजन तो वह

* यस्मात्क्षरमततोऽहमक्षरादपि चोत्तम ।
 अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथित पुरुषोत्तम ॥
 यो मामेवमसम्भूटा जनाति पुरुषोत्तमम् ।
 स सर्वविद्भजति मा सर्वभावेन भारत ॥

है, जिसमें हृदय भगवान्की तरफ ही खिच जाता है, केवल भगवान् ही प्यारे लगते हैं, भगवान्की विस्मृति चुभती है, बुरी लगती है। इस प्रकार भगवान्में तल्लीन होना ही असली भजन है।

विशेष बात

सबके मूलमें परमात्मा हैं और परमात्मासे ही वस्तु, व्यक्ति, पदार्थ, घटना आदि सबको सत्ता-स्फूर्ति मिलती है—ऐसा ज्ञान होना परमात्मप्राप्ति चाहनेवाले सभी साधकोंके लिये बहुत आवश्यक है। कारण कि जब सबके मूलमें परमात्मा ही हैं, तो साधकका लक्ष भी परमात्माकी तरफ ही होना चाहिये। उस परमात्माकी तरफ लक्ष करानेमें ही सम्पूर्ण विभूतियों और योगके ज्ञानका तात्पर्य है। यह बात गीतामें जगह-जगह बतायी गयी है, जैसे—जिससे सम्पूर्ण प्राणियोंकी प्रवृत्ति होती है और जिससे सम्पूर्ण ससार व्याप्त है, उस परमात्माका अपने कर्तव्य-कर्मोंके द्वारा पूजन करना चाहिये (१८।१६) जो सम्पूर्ण प्राणियोंके हृदयमें विराजमान है और जो सब प्राणियोंके प्रेरणा देता है, उस परमात्माकी सर्वभावसे शरण चाहिये (१८।६१-६२), इत्यादि।

कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—ये साधन तो अपनी अपनी रुचिके अनुसार भिन्न-भिन्न हो सकते हैं, पर उपर्युक्त ज्ञान सभी साधकोंके लिये बहुत ही आवश्यक है।

सम्बन्ध—

अब अगले श्लोकमें उन भक्तोंका भजन किस रीतिसे होता है—यह बताते हैं।

श्लोक—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्त परस्परम् ।

कथयन्तश्च मा नित्य तुष्यन्ति च रमन्ति च* ॥ ९ ॥

अथ—

मेरेमें चित्तवाले, मेरेमें प्राणोक्तो अर्पण करनेवाले भक्तजन आपसमें मेरे गुण, प्रभाव आदिको जनाते हुए और उनका कथन करते हुए ही नित्य निरन्तर सन्तुष्ट रहते हैं और मेरेमें प्रेम करते हैं ।

व्याख्या—

[भगवान्से ही सब उत्पन्न हुए हैं और भगवान्से ही सबकी चेष्टा हो रही है अर्थात् सबके मूलमें परमात्मा है—यह बात जिनको दृढ़तासे और निःसन्देहपूर्वक जँच गयी है, उनके लिये कुछ भी करना, जानना और पाना बाकी नहीं रहता । वस, उनका एक ही काम रहता है—सब प्रकारसे भगवान्में ही लगे रहना । यही बात इस श्लोकमें बतायी गयी है ।]

‘मच्चित्ता’—वे मेरेमें चित्तवाले हैं । एक स्वयंका भगवान्में लगाना होता है, और एक चित्तको भगवान्में लगाना होता है । जहाँ ‘मै भगवान्का हूँ’ ऐसे स्वयं भगवान्में लग जाता है, वहाँ

* इस श्लोकमें छ बातें हैं । उनमेंसे ‘मच्चित्ता’ और ‘मद्गतप्राणा’—ये दो बातें स्वयं करनेकी हैं अर्थात् भक्त स्वयं स्वतन्त्रतापूर्वक ऐसे बन जाते हैं, ‘बोधयन्त’ और ‘कथयन्त’—ये दो बातें आपसमें मिलनेपर होती हैं, तथा ‘तुष्यन्ति’ और ‘रमन्ति’—ये दो बातें फलरूपमें होती हैं ।

चित्त, बुद्धि आदि सब स्वतः भगवान्‌में लग जाते हैं । कारण कि कर्ता (स्वयं-) के लगनेपर कारण (मन, बुद्धि आदि) अलग यों ही रहेंगे ? वे भी लग जायेंगे । कारणोंके लगनेपर तो कर्ता अलग रह सकता है, पर कर्ताके लगनेपर कारण अलग नहीं रह सकता । जहाँ कर्ता रहेगा, वहीं कारण भी रहेंगे । कारण कि कारण कर्ताके ही अंगिन होते हैं । कर्ता उनको जहाँ लगाना चाहे वे वहीं लगते हैं । जैसे, कोई मनुष्य परमात्मप्राप्तिके त्रिषु स्वर्ग हृदयसे साधन बन जाता है, तो साधनमें उमका मन स्वतः लगता है । उसका मन साधनके सिवाय अन्य किसी कार्यमें नहा लगता और जिस कार्यमें लगता है, वह कार्य भगवान्‌का ही होता है । कारण कि स्वयं कर्ताके विपरीत मन-बुद्धि आदि नहीं जाते, नह चकते । पणु जहाँ स्वयं भगवान्‌में नहीं लगता, प्रयुक्त 'मैं तो ससारी हूँ,' 'मैं तो गृहस्थ हूँ'—इस प्रकार स्वयंको ससारमें लगाव चित्तको भगवान्‌में लगाना चाहता है, उसका चित्त भगवान्‌में निरन्तर नहीं लगता । तात्पर्य है कि स्वयं तो ससारी बना रहे ओ चित्तको भगवान्‌में लगाना चाहे, तो भगवान्‌में चित्त लगाना असम्भव सा है ।

दूसरी बात, चित्त वहीं लगता है, जहाँ प्रियता होती है । प्रियता वहीं होती है, जहाँ अपनापन होता है, आत्मीयता होती है । अपनापन होता है—भगवान्‌के साथ स्वयंका सम्बन्ध जोडनसे । 'मैं केवल भगवान्‌का हूँ और केवल भगवान् ही मेरे हैं, गरीर-समार मेरा नहीं है । मेरेपर प्रभुका पूरा अधिकार है, इस वास्ते वे मेरे

प्रति चाहे जैसा वर्ताव या निधान कर सकते हैं। परन्तु मेरा प्रभुपर कोई अधिकार नहीं है अर्थात् वे मेरे हैं तो मैं जैसा चाहूँ, वे वैसे ही करें—ऐसा कोई अधिकार नहीं है—इस प्रकार जो स्वयम्भो भगवान्‌का मान लेता है, अपने-आपको भगवान्‌के अर्पित कर देता है, उसका चित्त स्वतः भगवान्‌मे ला जाता है। ऐसे भक्तोंको ही यहाँ 'मच्चित्ता' कहा गया है।

यहाँ 'मच्चित्ता' पदमे चित्तके अन्तर्गत ही मन है अर्थात् मनोवृत्ति अलग नहा है। गीतामें चित्त और मनको एक भी कहा है और अन्ना-अन्ना भी। जैसे 'भूमिरापोऽनलो वायु एतन्मनो बुद्धिरेव च' (७ । ८)—यहाँ मनके अन्तर्गत ही चित्त है, और 'मन सयम्य मच्चित्त' (६ । १४)—यहाँ मन और चित्त अन्ना-अलग हैं। परन्तु इस श्लोकमें आये 'मच्चित्ता' पदमें मा और चित्त एक ही हैं, दो नहीं।

'मद्गतप्राणा'—उनके प्राण मेरे ही अर्पित हो गये हैं। प्राणोंमे दो बातें हैं—जीना और चेष्टा। उन भक्तोंका जीना भी मेरे लिये ही है, और शरीरकी सम्पूर्ण चेष्टाएँ (क्रियाएँ) भी मेरे लिये ही हैं। शरीरकी जितनी क्रियाएँ होती हैं, उनमें प्राणोंकी ही मुख्यता होती है। इस वास्ते उन भक्तोंकी यज्ञ, अनुष्ठान आदि शास्त्रीय, भजन ध्यान, कथा-कीर्तन आदि भाग्यमन्त्रणी, खाना-पीना आदि शारीरिक, खेती, व्यापार आदि जीविका मन्त्रन्वी, सेवा आदि सामाजिक आदि-आदि जितनी क्रियाएँ होती हैं, वे सब भगवान्‌के लिये ही होती हैं। उनकी क्रियाओंमें क्रियाभेद तो होता है, पर उद्देश्यभेद नहीं

होता । उनकी मात्र क्रियाएँ एक भगवान्‌के उद्देश्यसे ही होती हैं । इस वास्ते वे 'भगवद्गतप्राणा' होते हैं ।

जैसे गोपिकाओंने 'गोपीगीत'मे भगवान्‌से कहा है कि हम अपने प्राणोको आपमें अर्पण कर दिया है—'त्वयि घृतासव (श्रीमद्भा० १० । ३१ । १), ऐसे ही भक्तोंके प्राण केवल भगवान्‌मे रहते हैं । उनका जितना भगवान्‌से अपनापन है, उतना प्राणोसे नहीं । हरेके प्राणीमें 'किमी भी अवस्थामें मेरे प्राण न हूँ' इस तरह जीनेकी इच्छा रहती है । यह प्राणोका मोह है, स्नेह है परन्तु भगवान्‌के भक्तोका प्राणोंमे मोह नहीं रहता । उनमें 'हम जी रहे' यह इच्छा नहीं होती, और मरनेका भय भी नहीं होता । उनको जीनेसे मतलब रहता है और न मरनेसे । उनको तो केवल भगवान्‌से मतलब रहता है । कारण कि वे इस बातको अच्छे तरहसे जान जाते हैं कि मरनेसे तो प्राणोका ही प्रियोग होता है । भगवान्‌से तो कभी प्रियोग होता ही नहीं । प्राणोके साथ हमारा सम्बन्ध नहीं है, पर भगवान्‌के साथ हमारा स्वतन्त्र सिद्ध घनिष्ठ सम्बन्ध है । प्राण प्रकृतिके कार्य हैं और हम स्वयं भगवान्‌के अंश हैं ।

ऐसे 'मद्गतप्राणा' होनेके लिये साधकको सबसे पहले यह उद्देश्य बनाना चाहिये कि हमें तो भगवत्प्राप्ति ही करनी है । सासारिक चीजें प्राप्त हो या न हों, हम स्वस्थ रहें या बीमार, हमारा आदर हो या निरादर, हमें सुख मिले या दुःख—इनसे

हमारा कोई मतलब नहीं है। हमारा मतलब तो केवल भगवान्‌से है। ऐसा दृढ उद्देश्य बननेपर साधक 'भगवद्गतप्राण' हो जायगा।

'जोधयन्त परस्परम्—उन भक्तोंको भगवद्भाववाले, भगवद्-रचिवाले मिल जाते हैं तो उनके बीच भगवान्‌की बात छिड़ जाती है। फिर ये आपसमें एक-एकको भगवान्‌के तत्व, रहस्य, गुण, प्रभाव आदि जनाते हैं तो एक निःक्षण सत्सङ्ग होता है*। जब वे आपसमें भावपूर्वक बातें करने हैं, तो उनके भीतर भगवत्सम्बन्धी निःक्षण-निःक्षण बातें स्वतः आने लगती हैं। जैसे 'दीपक तले अँधेरा' रहता है, पर दो दीपक एक-दूसरेके सामने रख दें तो दोनों दीपकोंके तलेका अँधेरा दूर हो जाता है। ऐसे ही जब दो भगवद्भक्त एक साथ मिलने हैं और आपसमें भगवत्सम्बन्धी बातें चल पडती हैं, तब किसीके मनमें किसी तरहका भगवत्सम्बन्धी निःक्षण भाव पैदा होता है तो वह उसे प्रकट कर देता है, तथा दूसरेके मनमें और तरहका भाव पैदा होता है तो वह भी उसे प्रकट कर देता है। इस प्रकार आदान-प्रदान होनेसे उनमें नये-नये

* सतामय सारभृता निसर्गो यदर्थवाणीश्रुतिचेतसामपि ।

प्रनिश्चननन्यपदच्युतन्य यत्स्त्रिया विटानामिन साधु वार्ता ॥

(श्रीमद्भा० १० । १३ । २)

'सार तत्त्वको धारण करनेवाले पुरुषोंका यह स्वभाव होता है कि उनकी वाणी, कान और अंतःकरण भगवान्‌की लीलाओंको गाने, सुनने और चिन्तन करनेके लिये ही होते हैं। जैसे लम्पट पुरुषोंको स्त्रियोंकी चर्चामें नयापन मायूम देता है, ऐसे ही भक्तोंको भगवान्‌की लीलाओंमें, कथाओंमें नित्य नयापन मायूम देता है।'

मात्र प्रकट होते रहते हैं। परन्तु अकेलेमें भगवान्‌का चिन्तन करने उतने मात्र प्रकट नहीं होते। अगर मात्र प्रकट हो भी जाय तब अकेले अपने पास ही रहते हैं, उनका आदान-प्रदान नहीं होता।

‘कथयन्तश्च माम्’—उनको कोई भगवान्‌की कथा, लीला, सुननेवाला भगवद्भक्त मिल जाता है, तो वे भगवान्‌की लीला, कथा कहना शुरू कर देते हैं। जेमे सन्यासि-चारो भगवान्‌की कथा कहते हैं और सुनते हैं। उनमें कोई एक वक्ता बन जाना है और तीन श्रोता बन जाते हैं। ऐसे ही भगवान्‌के प्रेमी भक्तोंको कोई सुननेवाला मिल जाता है तो वे उसको भगवान्‌की कथा, गुण, प्रभाव, रहस्य आदि सुनाते हैं, और कोई सुननेवाला मिल जाता है तो स्वयं सुनने लग जाते हैं। परन्तु उनमें सुनाते समय ‘वक्ता’ बननेका अभिमान नहीं होता और सुनते समय ‘श्रोता’ बननेकी लज्जा नहीं होती।

‘नित्य तुष्यन्ति च’—इस तरह भगवान्‌की कथा, लीला, गुण, प्रभाव, रहस्य आदिको आपसमें एक-दूसरेको जनाते हुए और उनका ही कथन तथा चिन्तन करते हुए वे भक्त नित्य निरन्तर सन्तुष्ट रहते हैं। तात्पर्य है कि उनकी सन्तुष्टिका कारण भगवान्‌के सिवाय दूसरा कोई नहीं रहता, केवल भगवान् ही रहते हैं।

‘रमन्ति च’—वे भगवान्‌में ही रमण अर्थात् प्रेम करते हैं। इस प्रेममें उनमें और भगवान्‌में भेद नहीं रहता—‘तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात्’ (नारदभक्तिसूत्र ४१)। कभी भक्त भगवान्‌का भक्त

हो जाता है, तो कभी भगवान् अपने भक्तके भक्त बन जाते हैं* । इस तरह भगवान् और भक्तमें परस्पर प्रेमकी लीला अनन्तकालतक चन्ती ही रहती है, और प्रेम प्रतिक्षण बढ़ता ही रहता है ।

इस वर्णनसे साधकको इस बातकी तरफ ध्यान देना चाहिये कि उनकी हरेक क्रिया, भाव आदिका प्रवाह केवल भगवान्की तरफ ही हो ।

सम्बन्ध—

प्वश्लोकमें भक्तोंके द्वारा होनेवाले भजनका प्रकार बताकर अब अगल दो श्लोकोंने भगवान् उनपर विशेष कृपा करनेकी बात बताते हैं ।

श्लोक—

तेषा सततयुक्ताना भजता प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोग त येन मामुपयान्ति ते ॥ १० ॥

अर्थ—

उन नित्य निरन्तर मेरेसे लगे हुए और प्रेमपूर्वक मेरा भजन करनेवाले भक्तोंको मैं यह बुद्धियोग देता हूँ, जिससे उनको मेरी प्राप्ति हो जाती है ।

व्याख्या—

[भगवन्निष्ठ भक्त भगवान्को छोड़कर न तो समता चाहते हैं, न तत्त्वज्ञान चाहते हैं तथा न और ही कुछ चाहते हैं† । उनका

* एव न्वभक्तयो राजन् भगवान् भक्तभक्तिमान् ।

(श्रीमद्भा० १० । ८६ । ५९)

† न पारमेष्ठ्यं न महेंद्रविष्यं न सार्वभौमं न रमाविपत्यम् ।

न योगमिद्धीरपुनर्भव वा मय्यर्पिता मेच्छति मद्भिना यत् ॥

(श्रीमद्भा० ११ । १४ । १४)

तो एक ही काम है—हरदम भगवान्‌में लगे रहना । भगवान्‌में लगे रहनेके सिवाय उनके लिये कोई काम ही नहीं है । बस सारा-का-सारा काम, सारी जिम्मेदारी भगवान्‌की ही है अर्थात् उन भक्तोंसे जो कुछ कराना है, उनको जो कुछ देना है आदि सब काम भगवान्‌का ही रह जाता है । इस ग़रते भगवान्‌ यहाँ (दो श्लोकोंमें) उन भक्तोंको समता और तत्त्वज्ञान देनेकी बात कह रहे हैं ।]

‘तेषा सततयुक्तानाम्’—नये श्लोकके अनुसार जो भगवान्‌में ही चित्त और प्राणवाले हैं, भगवान्‌के गुण, प्रभाव, श्रेष्ठ, रहस्य आदिको आपसमें एक-एकको जनाते हुए तथा भगवान्‌के नाम, गुणोंका कथन करते हुए नित्य-निरन्तर भगवान्‌में ही सतुष्ट रहते हैं, और भगवान्‌में ही प्रेम करते हैं, ऐसे नित्य-निरन्तर भगवान्‌में लगे हुए भक्तोंके लिये यहाँ ‘सततयुक्तानाम्’ पद आया है ।

‘भजता प्रीतिपूर्वकम्’—वे भक्त न ज्ञान चाहते हैं, न वैराग्य । जब वे पारमार्थिक ज्ञान, वैराग्य आदि भी नहीं चाहते, तो फिर सांसारिक भोग तथा अष्टसिद्धि और नवनिधि चाह ही कैसे सकते हैं ! उनकी दृष्टि इन वस्तुओंकी तरफ़ जाती ही नहीं । उनके हृदयमें सिद्धि आदिका कोई आदर नहीं होता, कोई मूल्य नहीं होता । वे तो केवल भगवान्‌को अपना मानने और प्रेमपूर्वक स्वाभाविक

‘स्वयको मेरे अर्पित करनेवाला भक्त मुझे छोड़कर ब्रह्माका पद, इन्द्रका पद, सम्पूर्ण पृथ्वीका राज्य, पातालदि लोकोंका राज्य, योगनी समस्त सिद्धियाँ और मोक्षको भी नहीं चाहता ।’

ही भगवान्‌के भजनमें लगे रहते हैं। उनका किसी भी वस्तु, व्यक्ति आदिसे किसी तरहका कोई सम्बन्ध नहीं रहता। उनका भजन, भक्ति यही है कि हरदम भगवान्‌में लगे रहना। भगवान्‌की प्रीतिमें वे इतने मस्त रहते हैं कि उनके भीतर स्वप्नमें भी भगवान्‌के सिवाय कोई इच्छा जाग्रत् नहा होती।

‘ददामि बुद्धियोग तम्’—किसी वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति आदिके सयोग प्रियोगसे अन्त कारणमें कोई हलचल न हो अर्थात् ससारके पदार्थ मिलें या न मिलें, नका हो या नुकसान हो, आदर हो या निरादर हो, स्तुति हो, निन्दा हो, स्वास्थ्य ठीक रहे या न रहे आदि तरह-तरहकी और एक-एकसे विरुद्ध विभिन्न परिस्थितियों आनेपर भी उनमें एकरूप (सम) रह सकें—ऐसा बुद्धियोग अर्थात् समता मैं उन भक्तोंको देता हूँ।

‘ददामि’ का तात्पर्य है कि वे बुद्धियोगको अपना नहीं मानते, प्रत्युत भगवान्‌का दिया हुआ ही मानते हैं। इस रास्ते बुद्धियोगको लेकर उनको अपनेमें कोई विशेषता नहीं मादम देती।

‘येन’—मैं उनको यह बुद्धियोग देता हूँ, जिस बुद्धियोगसे वे मेरेको प्राप्त हो जाते हैं।

‘मामुपयान्ति ते’—जब वे भगवान्‌में ही चित्त और प्राणमाले हो गये हैं और भगवान्‌में ही सलुष्ट रहते हैं तथा भगवान्‌में ही प्रेम करते हैं, तो उनके लिये अब भगवान्‌को प्राप्त होना क्या वांछी रहा, जिससे कि भगवान्‌को यह कहना पड़ रहा है कि वे मेरेको प्राप्त हो जाते हैं। मेरेको प्राप्त हो जानेका तात्पर्य है कि वे प्रेमी भक्त

अपनेमें जो कमी मानते हैं, वह कमी उनमें नहीं रहती अर्थात् ऊर्णताका अनुभव हो जाता है ।

श्लोक—

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानज तम ।
नाशयाम्यात्मभावम्यो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥ ११

अर्थ—

उन भक्तोंपर कृपा करनेके लिये ही उनके होनेपरमें रहनेके मैं उनके अज्ञानजन्य अन्धकारको देदीप्यमान ज्ञानस्वरूप दीपके द्वारा नष्ट कर देता हूँ ।

व्याख्या—

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानज तम—उन भक्तोंके हृदय कुठ भी सासारिक इच्छा नहीं होती । इतना ही नहीं, उनके भीतर मुझे छोड़कर मुक्तिकरुकी भी इच्छा नहीं होती* । अभिप्राय है कि वे न तो सासारिक चीजें चाहते हैं और न पारमार्थिक चीजें (मुक्ति, तत्त्वज्ञान आदि) ही चाहते हैं । वे तो केवल प्रसन्न

* (१) सालोक्यसार्थिसामोप्यसारूप्यैकत्वमप्युत ।

दीयमान न गृह्णन्ति त्रिना मत्सेवन जना ॥

(श्रीमद्भा० ३ । २९ । १३)

भेरे प्रेमी भक्तगण मेरी सेवानो छोड़कर सालोक्य, सार्थि, सामोप्य, सारूप्य और, सादुप्य (इन पाँच प्रकारकी) मुक्तियाकी देनेपर भी नहीं लेते ।

(२) अस विचारि हरि भगत स्याने ।

मुक्ति निरादर भगति लुभाने ॥ (मानस ७ । ११८ । १)

मैं ही करते हैं। उनके इस निष्कामभाव और प्रेम-पूर्वक जन-कारणको देखकर मेरा हृदय द्रवित हो जाता है। मैं चाहता हूँ कि मेरे द्वारा उनकी कुल-सेवा बन जाय, वे मेरेसे कुछ ले लें। परन्तु वे मेरेसे कुछ लेते नहीं तो द्रवित हृदय होनेके कारण केवल उनपर कृपा करनेके लिये कृपा-परमेश होकर मैं उनके अज्ञानजन्य अन्धकारको दूर कर देता हूँ। मेरे द्रवित हृदय होनेका कारण यह है कि मेरे भक्तोंमें किसी प्रकारकी क्रिस्त्रिन्मात्र भी कमी न रहे।

‘आत्मभावस्य’—प्राणी अपना जो होनापन मानते हैं कि ‘मैं हूँ’ तो यह होनापन प्रायः प्रकृति-(शरीर-) के साथ सम्बन्ध जोड़कर ही मानते हैं अर्थात् तादात्म्यके कारण शरीरके बदलनेमें अपना बदलना मानते हैं, जैसे—मैं बालक हूँ, मैं जवान हूँ, मैं बलवान् हूँ, मैं निर्बल हूँ इत्यादि। परन्तु इन विशेषणोंको छोड़कर तत्त्वकी दृष्टिसे इन प्राणियोंका अपना जो होनापन है, वह प्रकृतिसे रहित है। इसी होनेपनमें सदा रहनेवाले प्रभुके लिये यहाँ ‘आत्मभावस्य’ पद आया है।

‘भास्वता ज्ञानदीपेन नाशयामि’—प्रकाशमान ज्ञानदीपकके द्वारा उन प्राणियोंके अज्ञानजन्य अन्धकारका नाश कर देता हूँ। तात्पर्य है कि जिस अज्ञानके कारण ‘मैं कौन हूँ और मेरा स्वरूप क्या है?’ ऐसा जो अनजानपना रहता है, उस अज्ञानका मैं नाश कर देता हूँ अर्थात् तत्त्वबोध करा देता हूँ। जिस तत्त्वबोधकी महिमा शास्त्रोंमें गायी गयी है, उसके लिये उनको श्रवण, मनन,

निदिध्यासन आदि साधन नहीं करने पड़ते और कोई परिश्रम करना पड़ता, प्रत्युत मैं स्वयं उनको तत्त्वबोध करा देता हूँ

विशेष बात

भक्त जब केवल भगवान्‌में लगे रहते हैं, तो साक्षात्कि-
मिद्धि-असिद्धिमें सम रहना—यह 'समता' भी भगवान् देते हैं
और जिसके समान पत्रि कोई नहीं है, वह 'तत्त्वबोध' (सद्-
ज्ञान) भी भगवान् स्वयं देते हैं। भगवान्‌के स्वयं देने-
तात्पर्य है कि भक्तोंको इनके ठिये इच्छा और प्रयत्न नहीं करना
पड़ता, प्रत्युत उनमें समता स्वतः आ जाती है, उनको तत्त्वबोध
स्वतः हो जाता है*। कारण कि जहाँ भक्तिरूपी माँ होगी, वहाँ
उसके वैराग्य और ज्ञानरूपी बेटे रहेंगे ही। इसलिये भक्तिसे
आनेपर समता—सत्कारसे वैराग्य और अपने स्वरूपका बोध—
ये दोनों स्वतः आ जाते हैं। इसका तात्पर्य है कि जो
साधनजय पूर्णता होती है, उसकी अपेक्षा भगवान्‌द्वारा की
हुई पूर्णता बहुत मिलक्षण होती है। इसमें अपूर्णताकी गंध भी
नहीं रहती।

सातमें और नवें अध्यायमें ज्ञान-विज्ञान कहनेकी जो प्रतिज्ञा
की थी, उसीका समेत भगवान्‌ने यहाँ (पहले श्लोकमें) 'भूय'
पदसे किया है, और 'परम वच' पद कहनेका तात्पर्य है कि
जैसे मैं अनन्यभाससे भजन करनेवाले भक्तोंका योगक्षेम रहन करता

* मम दरसन फल परम वनूपा । जीव पाप निग सहज सन्पा ॥

ऐसे ही जो केवल मेरे ही परायण हैं, मेरे प्रेमी भक्तों को न के न चाहनेपर भी और उनके लिये कुछ भी वांछी न पर भी) मैं समता और तत्त्वगोप्य देता हूँ। यह सत्र देनेपर भगवान् उन भक्तोंके ऋणी ही बने रहते हैं। भागवतमें गान्धे गोपियोंके लिये कहा है कि 'मेरे साथ सर्पया, निर्दोष निन्द्य) सम्प्रन्ध जोडनेवाली गोपियोका मेरेपर जो एहसान है, ग है, उसको मैं देवताओंके समान लम्बी आयु पाकर भी नहीं ता समता। कारण कि बड़े-बड़े ऋषि मुनि, त्यागी आदि भी की जिस अपनापनरूपी वेडियोको सुगमतासे नहीं तोड पाते, को इन्होने तोड डाला है। †

भक्त भगवान्के भजनमें इतने तल्लीन रहते हैं कि उनको पता ही नहीं रहता कि हमारेमें समता आयी है, हमें स्वरूपका प हुआ है। अगर कभी पता लग जाता है तो वे आश्चर्य करते कि ये समता और बोध कहाँसे आये। अब वे 'अपनेमें कोई शेषता न दीये' इसके लिये भगवान्से प्रार्थना करते हैं कि 'हे साथ। आप समता, बोध ही नहीं, दुनियाके उद्धारका अधिकार भी

ॐ अनन्याश्चिन्तयतो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥

(गीता ९ । २२)

† न पारयेऽहं निरवद्यसमुत्तमं स्वसाधुहृत्स्व विदुषासुपापि व ।
या माभजन् दुर्जरेगेश्चङ्खला सवृश्चय तद् व प्रतियातु माधुना ॥

(श्रीमद्भा० १०। ३२। २०)

दे दें, तो भी मेरेको कुछ माहम नहीं होना चाहिये कि मैंमें विशेषता है। मैं केवल आपका भजन-चिन्तनमें ही लगा रहूँ।

सम्बन्ध—

भक्तोंपर भगवान्की अलौकिक, विलक्षण कृपाकी बात सु अर्जुनकी दृष्टि भगवान्की कृपाकी तरफ जाती है और उस प्रभावित होकर वे अगले चार श्लोकोंमें भगवान्की कर्तते हैं।

श्लोक—

अर्जुन उवाच

पर ब्रह्म पर धाम पवित्र परम भवान् ।
 पुरुष शाश्वत दिव्यमादिदेवमज विभुम् ॥ १२ ॥
 आहुस्त्वामृषय सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा ।
 असितो देवलो व्यास स्वयं चैव ब्रवीषि मे ॥ १३ ॥

अर्थ—

अर्जुन बोले—परम ब्रह्म, परम धाम और महान् पवित्र भगवान् ही हैं। आप शाश्वत, दिव्य पुरुष, आदिदेव, अजन्मा और दिव्य (व्यापक) हैं—एसा सब-के-सब ऋषि, देवर्षि नारद, अन्ति देवल तथा व्यास कहते हैं और स्वयं आप भी मेरे प्रति कहते हैं।

व्याख्या—

‘पर ब्रह्म पर धाम पवित्र परम भवान्’—सामने बैठे हुए भगवान्की स्तुति करते हुए अर्जुन कहते हैं कि मेरे पूछनेसे जिसको आपने परम ब्रह्म (गीता ८।३) कहा, वह परम ब्रह्म आप ही हैं। जिसमें सब ससार स्थित रहता है, वह परम-गम अर्थात् परम स्थान आप ही हैं (गीता ९।१८)। जिसको पत्रियोंमें भी पवित्र कहा है—‘पवित्राणां पवित्र य’ वह महान् पवित्र भी आप ही हैं।

‘पुरुष शाश्वत दिव्यमादिदेवमज विभु स्वय चैव
 ‘गीपि मे’—आत्माके रूपमें ‘शाश्वत’ (गीता २ । २०), सगुण-
 भाकारके रूपमें ‘दिव्य पुरुष’ (गीता ८ । १०), देवताओं और
 ‘हृदय’ आदिके रूपमें ‘आन्दिदेव’ (गीता १० । २), मूढ़ लोग
 के अज्ञान अज नहीं जानते (गीता ७ । २५) तथा अमम्मूढ़ लोग
 के अज्ञान अज जानते हैं (गीता १० । ३)—इस रूपमें ‘अन’, और मे
 प्रत्यकरूपसे सारे ससारमें व्यापक हूँ (गीता ९ । ४)—इस रूपमें
 ‘विभु’ स्वय आपने मेरे प्रति कहा है ।

‘आहुस्त्वामृपय सवे देवर्षिर्नारदस्तथा अमितो देवलो
 व्यास’—महाभारत आदि ग्रन्थोंमें ऋषियोंने*, देवपि नारदनेन,

* मारुण्डेय ऋषिने कहा है—‘श्रीकृष्ण यज्ञोंके या, तंत्रोंके तंत्र
 और भूत भविष्यत् वर्तमानरूप में ’ (महा० भीष्म० ६८ । ३)

भृगु ऋषिने कहा है—‘ये देवताओंके देवता और परम पुरातन
 विष्णु हैं ।’ (महा० भीष्म० ६८ । ४)

अङ्गिरा ऋषिने कहा है—‘ये सम्पूर्ण प्राणियोंकी रचना करनेवाले
 हैं ।’ (महा० भीष्म० ६८ । ६)

सनत्कुमार आदिने कहा है—‘इनके मस्तकमें आकाश और
 सुजाओंमें पृथ्वी व्याप्त है । तीनों लोक इनके उदरमें स्थित * । ये सनातन
 पुरुष हैं । तपसे अन्त करण शुद्ध होनेपर ही साधक इन्हें जान सकते हैं ।
 आत्मसाक्षात्कारसे तृप्त हुए ऋषियोंने भी ये परमोत्कृष्ट हैं । युद्धमें कभी
 पीठ न दिखानेवाले उदार राजर्षियोंकी भी ये ही परमगति हैं ।’
 (महा० भीष्म० ६८ । ८-१०)

† देवर्षि नारदजीने कहा है—‘भगवान् श्रीकृष्ण सम्पूर्ण लोकोंको
 उत्पन्न करनेवाले और सम्पूर्ण भागोंको जाननेवाले हैं । ये साध्यों और
 देवताओंके ईश्वरोंके भी ईश्वर हैं ।’ (महा० भीष्म० ६८ । २)

‘स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वम्’—भगवान् अपने-आपको अपने-आपसे ही जानते हैं। अपने-आपको जाननेमें उन्हें किसी प्रकार साधनकी आवश्यकता नहीं है। अपने-आपको जाननेमें उनकी कोई भी कोई वृत्ति पंदा नहीं होती, कोई जिज्ञासा भी नहीं होती, किसी कारण- (अन्तःकरण और बहिःकरण) की आवश्यकता भी नहीं होती। उनमें शरीर-शरीरीका भाव भी नहीं है। वे तो स्वयं स्वभाषिक, अपने-आपसे ही अपने-आपको जानते हैं। उनमें किसी कारण-निरपेक्ष है, कारण सापेक्ष नहीं।

इस श्लोकका भाव यह है कि जैसे भगवान् अपने-आपसे ही अपने-आपसे ही जानते हैं, ऐसे ही भगवान्के अशरीरजीव अपने-आपसे ही अपने-आपको अर्थात् अपने स्वरूपको जान सकते हैं। अपने-आपको अपने स्वरूपका जो ज्ञान होता है, वह सर्वथा कारण-निरपेक्ष होता है। इस वास्ते इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदिसे अपने स्वरूपको नहीं जान सकते। भगवान्का अशरीरजीव भगवान्की तरह जीवका अपना ज्ञान भी कारण-निरपेक्ष है।

सम्बन्ध—

विभूतियोंका ज्ञान भगवान्में दृढ भक्त बरानेवाला है (गीता १०।७)। इस वास्ते अब अगले तीन श्लोकोंमें अर्जुन भगवान्से विभूतियोंको विस्तारसे कहनेके लिये प्रार्थना करते हैं।

इक्ष्वाकुटिष्ठे पाँच देवताओंका वाचक मान सकते हैं। इन सम्बन्धोंमें प्रयोग करके अर्जुन भगवान्में मानो यह कहते हैं कि ये पाँच देवता मूल रूप आप ही हैं।

श्लोक—

वक्षतुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतय ।
याभिर्विभूतिभिलोकानिमास्त्व व्याप्य तिष्ठसि ॥ १६ ॥

अर्थ—

जिन विभूतियोसे आप इन सम्पूर्ण लोकोंको व्याप्त करके स्थित हैं, उन सभी अपनी दिव्य विभूतियोका सम्पूर्णतासे वर्णन करनेमें आप ही समर्थ हैं ।

व्याख्या—

भगवान् ने पहले (साने श्लोकमें) यह बात कही कि जो मनुष्य मरी विभूतियोको और योगको तत्त्वसे जानना हैं, उसका मेरेमे अष्ट भक्तियोग हो जाता है । उसे सुननेपर अर्जुनके मनमें आया कि भगवान् में ऋद्ध भक्ति होनेका यह उद्भूत सुगम और श्रेष्ठ उपाय है, क्योंकि भगवान् की विभूतियो ओर योगको तत्त्वसे जाननेपर मनुष्यका मन भगवान् की तरफ स्वाभाविक ही खिंच जाता है और भगवान् में उसकी स्वाभाविक ही भक्ति जाग्रत हो जाती है । अर्जुन अपना कल्याण चाहते हैं और कल्याणके लिये उनको भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ उपाय दीखता है । इस रास्ते अर्जुन कहते हैं कि जिन विभूतियोसे आप सम्पूर्ण लोकोंको व्याप्त करके स्थित हैं—‘याभिर्विभूतिभिलोकानिमास्त्व व्याप्य तिष्ठसि’ उन अत्रैकिक, प्रिक्शण विभूतियोका प्रित्सारपूर्वक सम्पूर्णतासे वर्णन कीजिये । कारण कि उनको कहनेमें आप ही समर्थ हैं, आपने सिनाय उन विभूतियोको और कोई नहा कह सकता ।

‘व्यक्तुमर्हस्यशेषेण’—आपने पहले सातवें, नये और यह दसवें अध्यायके आरम्भमें अपनी विभूतियाँ बतवाईं और उनको जानने का फल दृढ भक्तियोग होना बताया। अब मैं भी आपकी सविभूतियोंको जान जाऊँ और मेरा भी आपमें दृढ भक्तियोग हो जाय, इस रास्ते आप अपनी विभूतियोंको पूरी-पूरी कह दें बाकी कुछ न रखें।

‘दिव्या ह्यात्मविभूतयः’—विभूतियोंको दिव्य कहने का तात्पर्य है कि ससारमें जो कुछ विशेषता दीखती है, वह मूल दिव्य परमात्माकी ही है, ससारकी नहीं। इस वास्ते ससार की विशेषता देखना भोग है और परमात्माकी विशेषता देखना निर्मा है—योग है।

श्लोक—

कथं विद्यामह योगिंस्त्वा सदा परिचिन्तयन् ।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया ॥ १७

अथ—

हे योगिन् ! हरदम माझोपाङ्ग चिन्तन करता हुआ मैं आपको कैसे जानूँ ? और हे भगवन् ! किन-किन भावोंमें आप मेरे द्वारा चिन्तन किये जा सकते हैं अर्थात् किन-किन भावोंमें मैं आपका चिन्तन करूँ ?

व्याख्या—

‘कथं विद्यामह योगिंस्त्वा सदा परिचिन्तयन्’—सातवें श्लोकमें भगवान्ने कहा कि जो मेरी विभूति और योगको तत्त्वसे जानना है, वह अनिच्छ भक्तियोगसे युक्त हो जाता है। इस रास्ते

अर्जुन भगवान्से पूछते हैं कि हरदम चिन्तन करता हुआ मैं आपको कैसे जानूँ ?

‘केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया’—आठवें अध्यायके चौदहवें श्लोकमें भगवान्ने कहा कि जो अनन्यचित्त होकर नियम-निरन्तर मेरा स्मरण करता है, उस योगीको मैं सुलभतासे प्राप्त हो जाता हूँ । फिर नवें अध्यायके षाईसवें श्लोकमें कहा कि जो अनन्य भक्त निरन्तर मेरा चिन्तन करते रहते हैं, उनका योगक्षेम मैं ग्रहण करता हूँ । इस प्रकार चिन्तनकी महिमा सुनकर अर्जुन कहते हैं कि जिस चिन्तनसे मैं आपको तत्पसे जान जाऊँ, यह चिन्तन मैं कहाँ-कहाँ करूँ ? किस वस्तु, व्यक्ति, देश, काल, घटना, परिस्थिति आदिमें मैं आपका चिन्तन करूँ ? [यहाँ चिन्तन करना मान्य है और भगवान्को तत्पसे जानना साध्य है ।]

यहाँ अर्जुनने तो पूछा है कि मैं कहाँ-कहाँ, किस-किस वस्तु, व्यक्ति, स्थान आदिमें आपका चिन्तन करूँ, पर भगवान्ने आगे उत्तर यह दिया है कि जहाँ-जहाँ भी मैं चिन्तन करता हूँ, वहाँ-वहाँ ही मैं आपको समझूँ । तात्पर्य यह है कि मैं तो सब वस्तु, व्यक्ति, देश, काल आदिमें परिपूर्ण हूँ । इस रास्ते किसी विशेषता, महत्ता, सुन्दरता आदिको लेकर जहाँ-जहाँ तेरा मन जाता है, वहाँ-वहाँ मेरा ही चिन्तन कर अर्थात् वहाँ उस विशेषता आदिको मेरी ही समझ । कारण कि मत्कारकी विशेषताको माननेमें मत्कारका चिन्तन होगा, पर मेरी विशेषताको माननेसे

मेरा ही चिन्तन होगा । इस प्रकार ससारका चिन्तन मेरे चिन्तनमें परिणत होना चाहिये ।

श्लोक—

विस्तरेणात्मनो योग विभूति च जनार्दन ।
भूय कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥ १८ ॥

अथ—

हे जनार्दन ! आप अपने योग (सामर्थ्य-) को और विभूतियों-को विस्तारसे फिर कहिये, क्योंकि आपके अमृतमय वचन सुनते-सुनते मेरी तृप्ति नहीं हो रही है ।

व्याख्या—

‘विस्तरेणात्मनो योग विभूतिं च जनार्दन’—भगवान् ने सातवें और नवें अध्यायमें ज्ञान-विज्ञानका विषय स्वयं कह दिया । इतना कहनपर भी उनकी तृप्ति नही हुई, इसलिये दसवाँ अध्याय अपनी ओरसे ही कहना शुरु कर दिया । भगवान् ने दसवाँ अध्याय आरम्भ करते हुए कहा कि ‘तु फिर मेरे परम वचनको सुन ।’ ऐसा सुनकर भगवान् की कृपा और महत्त्वकी तरफ अर्जुनकी दृष्टि विशेषतासे जाती है और वे भगवान् से फिर सुनानेके लिये प्रार्थना करते हैं । अर्जुन कहते हैं कि आप अपने योग और विभूतियोंको विस्तारपूर्वक फिरसे कहिये, क्योंकि आपके अमृतमय वचन सुनते हुए तृप्ति नही हो रही है । मन करता है कि सुनना ही चला जाऊँ ।

भगवान् की विभूतियोंको सुननेसे भगवान् में प्रयत्न भावपूर्णता दृश्यकर अर्जुनको लगा कि इन विभूतियोंका ज्ञान होनेसे

भगवान्‌के प्रति मेरा विशेष आकर्षण हो जायगा, और भगवान्‌मे सहज ही मेरी दृढ़ भक्ति हो जायगी। इस रास्ते अर्जुन विस्तारपूर्वक फिरसे कर्तव्यके लिये प्रार्थना करते हैं।

स्तुति, प्रार्थना और प्रश्न-सम्बन्धी विशेष बात

स्तुति, प्रार्थना और प्रश्न—इन तीनोंमे क्या अन्तर है ? इसे यहाँ बताया जाता है।

स्तुतिमें भगवान्‌की माहमा, गुण, प्रभाव आदिका कथन (गान) हाता है। प्रार्थनामें भगवान्‌के गुणों आदिकों तत्परसे जाननेकी अथवा भगवान्‌से कुछ पानेकी इच्छा होती है। अपने हृदयमें कोई हलचल, सन्देह, जिज्ञासा होती है, उसको दूर करनेके लिये प्रश्न होता है।

स्तुतिमें भगवान्‌के प्रति ज्यादा आस्तिकभाव होता है। प्रार्थनामें आस्तिकभावके साथ साथ अपनी इच्छा भी रहती है। प्रश्नमें केवल अपनी जिज्ञासाकी पूर्ति करना होता है।

स्तुतिमें पूज्यभाव ज्यादा होता है। प्रार्थनामें पूज्यभावके साथ-साथ विश्वास तथा अपनी इच्छा भी होती है। प्रश्नमें केवल विषयका समाधान करनेकी इच्छा रहती है।

स्तुतिमें भगवान्‌के गुणगानकी मुख्यता है। प्रार्थनामें गुणगानकी मुख्यता होते हुए भी साथमें अपनी माँग है। प्रश्नमें भी गुणगान होता है, पर जिज्ञासा, सन्देह दूर करना मुख्य है। इस दृष्टिमें प्रश्नमें जितने अंशमें विशेषता दीखती है, उतना अंश स्तुति है, और जितने अंशमें समाधान चाहता है, उतना अंश प्रार्थना है।

जहाँ भक्तका भगवान्के साथ वनिष्ठ अपनापन है, वहाँ भगवान्के गुण दीखते हुए भी स्तुति, प्रार्थना और प्रश्न नहीं होते। कारण कि जब 'मै भगवान्का हूँ और भगवान् मेरे हैं तो क्या भगवान्में विशेषता है और क्या मेरेमें कमी है। इस तरह भक्तकी भगवान्के साथ जो आमीयता, एकता, तल्लीनता, प्रेम हैं, उससे भगवान्को विशेष आनन्द मिळता (भगवान्का यह विशेष आनन्द ही भक्तका आनन्द होता है। भक्तका अपना कोई विशेष आनन्द नहीं है)। इस प्रेमका नाम ही माधुर्य है। इसमें स्तुति, प्रार्थना और प्रश्न—ये तीनों ही नहीं होते।

गीताभरमे अर्जुन जहाँ-जहाँ बोले हैं, वहाँ किसमें स्तुति है, किसमें प्रार्थना है और किसमें प्रश्न है, इसको सक्षेपसे नीचे दिया जाता है—

पहले अव्यायके इक्कीसवें श्लोकके उत्तरार्धसे लेकर तेरहवें श्लोकतक अर्जुन जो बोले हैं, उसमें स्तुति, प्रार्थना और प्रश्न—ये तीनों ही नहीं हैं। वहाँ धृतराष्ट्र-सम्बन्धियोंको देखकर, जोशमें आकर अपना रथ दोनों सेनाओंके बीचमें खड़ा करनेके लिये भगवान्को आज्ञा देने हैं। ऐसे ही अट्ठाईसवें श्लोकके उत्तरार्धमें लेकर छियालीसवें श्लोकतक अर्जुनने कायरता, शोक आदिके उचन कहे हैं।

दूसरे अव्यायके चौथे श्लोकमें आठवें श्लोकतक अर्जुनने प्रायः युद्ध करनेका अनौचित्य ही सिद्ध किया है। केवल सातवें श्लोकके पूर्वार्धमें अपनी कमजोरीके कारण 'मेरेको क्या करना

चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये' इस विषयमें अर्जुनका प्रश्न है, और उत्तरार्थमें 'मेरा निश्चिन कल्याण हो जाय' इसके लिये अर्जुनकी भगवान्से शरणागतिपूर्वक प्रार्थना है । फिर चौथमें श्लोकमें 'स्थितप्रज्ञके क्या लक्षण हैं : वह कैसे बोलता है : कैसे बँटता है : आर कैसे चलता है ?' इस तरह जिज्ञासापूर्वक चार प्रश्न हैं ।

तीसरे अध्यायके पहले और दूसरे श्लोकमें 'जब कर्मसे बुद्धि ही श्रेष्ठ है, तो फिर मेरेको पार कर्ममें क्यों लगाते हैं । जिससे मैं श्रेयको प्राप्त हो जाऊँ—वह एक बात कहिये' इस तरह प्रार्थनापूर्वक प्रश्न है । छत्तीसवें श्लोकमें 'पाप करना न चाहते हुए भी मनुष्यके द्वारा पाप करानेवाला कौन है : इस तरह जिज्ञासापूर्वक प्रश्न है ।

चौथे अध्यायके चौथे श्लोकमें 'आपने सूर्यको उपदेश कैसे दिया ?' इस तरह भगवान्के ज्ञानारके विषयमें अर्जुनका जिज्ञासापूर्वक प्रश्न है ।

पाँचवें अध्यायके पहले श्लोकमें सन्यास आर योगके विषयमें अर्जुनका प्रार्थनापूर्वक प्रश्न है ।

छठे अध्यायके तैत्तिरीयमें चौतीसवें श्लोकमें मनकी चञ्चलताके विषयमें अर्जुनका प्रश्न है । सैतीसवें-अड़तीसवें श्लोकमें योगभ्रष्टकी गतिके विषयमें सन्देहपूर्वक प्रश्न है । उन्नालीसवें श्लोकमें सन्देहको दूर करनके लिये अर्जुनने भगवान्की महत्ताको समझते हुए उनसे प्रार्थना की है ।

आठवें अध्यायके पहले-दूसरे श्लोकमें ब्रह्म, अव्यात्म आदिके विषयमें अर्जुनका जिज्ञासापूर्वक प्रश्न है ।

दसवें अध्यायके बारहवेंसे पंद्रहवें श्लोकतक अर्जुनने भगवान्‌को प्रभावको लेकर उनकी स्तुति की है। सोरहवेंसे अठारहवें श्लोकतक प्रार्थनापूर्वक प्रश्न है अर्थात् सोरहवेंसे अठारहवें श्लोकमें प्रार्थना है तथा मंत्रहमें श्लोकमें प्रश्न है।

ग्यारहवें अध्यायके पहलेसे चौथे श्लोकतक विश्वरूप दिखानेके लिये अर्जुनकी भगवान्‌में नम्रतापूर्वक प्रार्थना है। पंद्रहवेंसे तीसवें श्लोकतक भगवान्‌के अशोकिक, दिव्य प्रभावको लेकर स्तुति है और इकतीसवें श्लोकमें प्रार्थनापूर्वक प्रश्न है। उत्तीसवेंसे चालीसवें श्लोकतक नमस्कारपूर्वक स्तुति है और इकतालीसवेंसे चोत्तीसवें श्लोकतक अपराध क्षमा करनेके लिये प्रार्थना है। पँतालीसवें छियालीसवें श्लोकमें भगवान्‌से चतुर्भुजरूप दिखानेके लिये प्रार्थना है। इक्यावनवें श्लोकमें अर्जुनने केवल अपनी स्थितिका वर्णन किया है।

बारहवें अध्यायके पहले श्लोकमें 'मगुण और निर्गुण उपामको-में कौन श्रेष्ठ है' इस विषयमें अर्जुनका प्रश्न है।

चौदहवें अध्यायके इक्कीसवें श्लोकमें गुणातीतके विषयमें अर्जुनका प्रश्न है।

सत्रहवें अध्यायके पहले श्लोकमें निष्ठाको लेकर अर्जुनका प्रश्न है।

अठारहवें अध्यायके पहले श्लोकमें स यास और योगके विषयमें अर्जुनका प्रश्न है। निरुत्तरवें श्लोकमें निःसदिग्धरूपमें भगवान्‌की आज्ञाका पालन करनेकी शोभति है।

‘भूय कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम्—अर्जुन श्रेयसा साग्न चाहते है (गीता २ । ७, ३१२, ५ । १), और भगवान्ने विभूति तत्र योगको तत्त्वसे जाननेका फल अपनेमें दृढ भक्ति होना बताया (गीता १० । ७) । इस गस्ते अर्जुनको विभूतियोंको जाननेवाली बात बहुत सरल लगी कि मेरेको कोई नया काम नहीं करना है, नया चिन्तन नहीं करना है, प्रयुक्त जहाँ-कहाँ विशेषता आदिको लेकर मनका स्वाभाविक खिंचाव होता है, वहीं उस विशेषताको भगवान्की मानना है । इससे मनकी वृत्तियोंका प्रवाह समारम्भ न होकर भगवान्मे हो जायगा, जिससे मेरी भगवान्में दृढ भक्ति हो जायगी ओर मेरा सुगमतासे कल्याण हो जायगा । क्लिप्तनी सीरी, सरल ओर सुगम बात है । इस गस्ते अर्जुन विभूतियोंको फिर कहनेके लिये प्रार्थना करते हैं ।

जैसे, कोई भोजन करने बैठे ओर भोजनमें कोई वस्तु प्रिय (बढ़िया) मात्रा में द, तो उसमें उसकी रुचि बढ़ती है और वह बार-बार उस प्रिय वस्तुको माँगता है । पर उस रुचिमें दो बाधाएँ लगती हैं—एक तो वह वस्तु अगर कम मात्रामें होनी है तो पूरी तृप्तिपूर्वक नहीं मिठती, ओर दूसरी, वह वस्तु अप्रिय मात्रामें होनेपर भी पेट भर जानेसे अप्रिय नहीं खायी जा सकती । परन्तु भगवान्की विभूतियोंका और अर्जुनकी विभूतियों सुननेकी रुचिका भोजनकी तरह अन्त नहीं आता । कानोके द्वारा अमृतमय उचनोंको सुनते हुए न तो उन उचनोंका अन्त आता है, और न उनको सुनते हुए तृप्ति ही होती है । इस वास्ते अर्जुन भगवान्से प्रार्थना करते हुए कहते हैं कि आप ऐसे अमृतमय उचन सुनाते ही जाइये ।

सम्यन्व—

अर्जुनकी प्रार्थना स्वीकार करके भगवान् अब अगत श्लोकमें अपनी विभूतियों और योगको कहना आरम्भ करते हैं ।

श्लोक—

श्रीभगवानुवाच

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
प्राधान्यत कुरुश्रेष्ठ नाम्यन्तो विस्तरस्य मे ॥ १९ ॥

अथ—

श्रीभगवान् बोले—हाँ, टीकू हूँ । मैं अपनी दिव्य विभूतियोंके तेरे लिये प्रधानतासे (सक्षेपसे) कहूँगा, क्योंकि तू कुरुश्रेष्ठ । मेरे विभूतियोंके विस्तारका अन्त नहीं है ।

व्याख्या—

‘हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः’—योग और विभूति कहनेके लिये अर्जुनकी जो प्रार्थना है, उसको ‘हन्त’ अर्थात् स्वीकार करते हुए भगवान् कहते हैं कि मैं अपनी दिव्य, अलौकिक, प्रिलक्षण विभूतियोंको तेरे लिये कहूँगा (योगकी बात भगवान् ने आगे इकतालीसवें श्लोकमें कही है) ।

‘दिव्या’ कहनेका तापर्य है कि जिस किसी वस्तु, व्यक्ति, घटना आदिमें जो कुछ भी विशेषता दीखती है, वह वस्तु भगवान् की ही है । इस धाम्ते उसको भगवान् की ही देवता दिव्यता है, और वस्तु, व्यक्ति आदिकी देवता लौकिकता है ।

‘प्राधान्यत कुरश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे’—जब अर्जुन-
 । कहा कि भगवान् ! आप अपनी विभूतियोंको विस्तारसे, पूरो-की-
 ी कह दें, तो भगवान् कहते हैं कि मैं अपनी विभूतियोंको
 क्षेपसे कहूँगा, क्योंकि मेरी विभूतियोंका अन्त नहीं है । पर आगे
 यारहवें अध्यायमें जब अर्जुन बड़े सकोचसे कहते हैं कि मैं आपका
 ेश्वररूप देखना चाहता हूँ, अगर मेरे द्वारा यह रूप देखा जाना
 क्य है तो दिया दीजिये, तब भगवान् कहते हैं—‘पश्य मे पार्थ
 रूपाणि’ (११ । ५) अर्थात् तू मेरे रूपोंको देख ले । रूपोंमें
 कितने रूप ? क्या दो-चार ? नहीं-नहीं सैकड़ों हजारों रूपोंको देख ।
 इस प्रकार यहाँ अर्जुनकी विस्तारसे विभूतियों कहनेकी प्रार्थना सुनकर
 भगवान् सकोचसे विभूतियों सुननेके लिये कहते हैं ओर वहाँ
 अर्जुनकी एक रूप दिखानेकी प्रार्थना सुनकर भगवान् सैकड़ों हजारों
 रूप देखनेके लिये कहते हैं ।

यह एक बड़ा आश्चर्यका बात है कि सुननेमें तो आदमी
 बहुत सुन सकता है, पर उतना नेत्रोंसे देख नही सकता, क्योंकि
 देखनेकी शक्ति कानोंकी अपेक्षा सीमित होती है* । फिर भी

* कानका विषय है शब्द, ओर शब्द दो तरफका होता है—
 वर्णात्मक और स्वयं या मन्त्र । कानके द्वारा शब्दोंकी सुनकर हमें
 प्रत्यक्ष भी ज्ञान होता है । और अप्रत्यक्ष (स्वरग, नरक आदि)
 का भी ज्ञान होता है । इसीलिये वेदान्त प्रक्रिया (श्रवण,
 मनन, निदिध्यासन आदि-) में ‘श्रवण’ सबसे पहले आया है । ऐसे
 ही भक्तिमें भी (श्रवण, कौतव्य, स्मरण, पादसेवन आदिमें) ‘श्रवण’
 पहले आया है । शास्त्रोंमें निश्चय परमात्मतत्त्वका ज्ञान किया गया है,

जब अर्जुनने सम्पूर्ण विभूतियोंको सुननेमें अपनी मामूली क्वाली तो भगवान्ने सक्षेपसे सुननेके लिये कहा, और जब अर्जुनने एकरूपको देखनेमें नम्रतापूर्वक अपनी असमर्पता प्रकट की तो भगवान्ने अनेक रूप देखनेके लिये कहा। इसका कारण यह है कि गीतामें अर्जुनका भगवद्विषयक ज्ञान उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है। इस दममें अर्थात् जब भगवान्ने यह कहा कि मेरी विभूतियोंका

उसका ज्ञान (परोक्ष ज्ञान) हमें ज्ञानसे ही होता है अर्थात् ज्ञानमें सुनकर ही उसके अनुसार करने, मानने या जाननेसे हम उस परमात्म तत्त्वका साक्षात्कार करत हैं।

शब्दमें अचिन्त्य शक्ति है—

शब्दशक्तेरचिन्त्यत्वात् शब्दादेवापरोक्षी ।

प्रसुप्त पुरुषो यद्वच्छदेनानबुध्यते ॥

मनुष्य सोता है तो नादम इन्द्रियों समुचित होकर मनमें, मन समुचित होकर बुद्धिम और बुद्धि समुचित होकर अज्ञान (अविद्या) में लीन हो जाती है। इस तरह यद्यपि नादम इन्द्रियों बहुत छिपा रहती है, तथापि सोय हुए आत्मीका नाम लेकर पुनरा जाय तो वह जग जाता है। शब्दम इतनी शक्ति है कि वह अविद्याम लीन हुएका भी जगा देता है। इस वास्ते शब्दम अनन्त शक्ति है। यदि तो पदाशक्तक जाकर रुक जाती है। पर शब्द केवल जातक ही नैरा जाना, प्रसुप्त स्वयंकर चला जाता है।

नेत्रामें रूप पड़हा जाता है। जैसे तपणमं मुख देखने समय काँचके भीतर रूप चला जाता है तो उसमें मुख दिग्यायी देने लगता है, ऐसे ही आँखमें भी एक काँच है, जिसके भीतर पदार्थका रूप चला जाता है तो वह पदार्थ दिग्यायी देने लगता है। नेत्राम एक विशेष शक्ति यह है कि वे पदार्थ रूपका पकड़े हुए ही दूसरे रूपका

अत नहीं ह, तो अर्जुनकी दृष्टि भगवान्की अनन्तताकी तरफ चली गयी। उन्होंने समझा कि भगवान्के विषयमे तो मै कुछ भी नहीं जानता, क्योंकि भगवान् अनन्त हैं, असीम हैं, अपार हैं। परंतु अर्जुनने भूलसे कह दिया कि आप अपनी सब-की-सब विभूतियाँ कह दीजिये। इस वास्ते अर्जुन आगे चलकर साधवान हो जाते हैं और नम्रतापूर्वक एक रूपको दिग्बानेके लिये ही भगवान्से प्रार्थना करते हैं। नेत्रोंकी शक्ति सीमित होते हुए भी भगवान् दिव्य चक्षु प्रदान करके अर्थात् चर्मचक्षुओमे विशेष शक्ति प्रदान करके अपने अनेक रूपोंको दिग्बानेकी आज्ञा देने हैं।

देख लेते ह, इसी कारण जब त्रिजगत्से पद्म चलता ह, तब उसने तीनों पर अलग अलग घूमनेपर भी नेत्रों (अलग अलग पर घूमते दिग्बायी न देखर) एक चक्रमा दिग्बायी देता है। ऐसा होने हुए भी कानाम त्रिजगत्की शक्ति ह, उतनी नेत्रोंमें नहीं ह।

इन्द्रियाँ नेत्रल अपने अपने विषयोंका ही पकड़ सकती हैं, परमात्मतत्त्वको नहीं पकड़ सकतीं, क्योंकि परमात्मतत्त्व इन्द्रियाँका विषय नहीं है। परमात्मतत्त्व स्वयको विषय ह अर्थात् उसका ज्ञान स्वयसे ही होता है। इस वास्ते अर्जुनने इस अध्यायमें कहा ह कि आप स्वयको स्वयसे ही जानते हे—स्वयमेवात्मनात्मान वेत्थ न्यम् (गीता १०। १५)। दूसरे अध्यायमें भगवान्ने बताया है कि मनम आयी हृद् सम्पूर्ण कामनाओंको छोड़नेपर मनुष्य अपनेसे ही अपने आपमें सन्तुष्ट होता है—प्रजहाति यदा कामाभवात्प्राथ मनोगतान्। आमयेनात्मना तुषः (०। ५५)। तात्पर्य यह हुआ कि परमात्मतत्त्वका ज्ञान करण निरपेक्ष है। उस ज्ञानको और नहीं पकड़ सकतीं, पर वान शब्दादि द्वारा पकड़ करके स्वयतः पट्टा देता है।

आदि, मध्य तथा अन्तमें मैं ही हूँ । यह नियम है कि जो वस्तु उत्पत्ति-प्रिनाशशील होती है, उसके आरम्भ और अन्तमें जो तत्त्व रहता है, वही तत्त्व उसके मध्यमें भी रहता है (चाहे दीये या न दीये) अर्थात् जो वस्तु जिस तत्त्वसे उत्पन्न होती है और जिसमें लीन होती है, उस वस्तुके आदि, मध्य और अन्तमें (सब समयमें) वही तत्त्व रहता है । जैसे, सोनेसे बने गहने पहले सोनारूप होते हैं और अन्तमें (गहनोके सोनेमें लीन होनेपर) सोनारूप ही रहते हैं तथा बीचमें भी सोनारूप ही रहते हैं । केवल नाम, आकृति, उपयोग, माप, तौल आदि अलग-अलग होते हैं, और इनके अलग-अलग होते हुए भी गहने सोना ही रहते हैं । ऐसे ही सम्पूर्ण प्राणी आदिमें भी परमात्मस्वरूप थे और अन्तमें लीन होनेपर भी परमात्मस्वरूप रहेंगे तथा मध्यमें नाम, रूप, आकृति, क्रिया, स्वभाव आदि अलग अलग होनेपर भी तत्त्वन परमात्मस्वरूप ही हैं—यह बतानेके लिये ही यहाँ भगवान्ने अपनेको सम्पूर्ण प्राणियोंके आदि, मध्य और अन्तमें कहा है ।

भगवान्ने विभूतियोंके इस प्रकरणमें आदि, मध्य और अन्तमें—तीन जगह साररूपसे अपनी विभूतियोंका वर्णन किया है । पहले इस श्रीमवे श्लोकमें भगवान्ने कहा कि 'सम्पूर्ण प्राणियोंके आदि, मध्य और अन्तमें मैं ही हूँ, बीचके वत्तीसवें श्लोकमें कहा कि 'सम्पूर्ण सगणके आदि, मध्य और अन्तमें मैं ही हूँ' और अन्तके उन्तालीसवें श्लोकमें कहा कि 'सम्पूर्ण प्राणियोंका जो बीज है, वह मैं ही हूँ,' क्योंकि मेरे बिना कोई भी चर-अचर

प्राणी नहीं है, चिन्तन करनेके लिये यही विभूतियोका सार है । तात्पर्य यह है कि किसी विशेषता आदिको लेकर जो विभूतियाँ कही गयी हैं उन विभूतियोंके अतिरिक्त भी जो कुछ दिखायी दे, वह भी भगवान्की ही विभूति है—यह बतानेके लिये भगवान्ने अपनेको सम्पूर्ण चराचर प्राणियोंके आदि, मध्य तथा अन्तमें विद्यमान कहा है । तत्त्वसे सब कुछ परमात्मा ही है—‘वासुदेव सर्वम्’—इस लक्ष्यको बतानेके लिये ही विभूतियाँ कही गयी हैं ।

इस बीसवें श्लोकमें भगवान्ने प्राणियोंमें जो आत्मा है, जीवोंका जो स्वरूप है, उसको अपनी विभूति बताया है । फिर बत्तीसवें श्लोकमें भगवान्ने सृष्टिरूपसे अपनी विभूति बताया कि जो जड़-चेतन, स्थानर-जङ्गम सृष्टि है, उसके आदिमें ‘मे एक ही बहुत रूपोंमें हो जाऊँ’ (‘वह स्या प्रजायेयेति’ छान्दोग्य० ६ । २ । ३)—ऐसा सकल्प करता हूँ और अन्तमें मे ही शेष रहता हूँ—‘शिष्यते शेषसद्य’ (श्रीमद्भा० १० । ३ । ३५) । अतः बीचमें भी सब कुछ मैं ही हूँ—‘वासुदेव सर्वम्’ (गीता ७ । १९) ‘सदसच्चाहमर्जुन’ (गीता ९ । १९), क्योंकि जो तत्त्व आदि और अन्तमें होता है, वही तत्त्व बीचमें होता है । अन्तमें उन्तालीसवें श्लोकमें भगवान्ने बीज (कारण) रूपसे अपनी विभूति बताया कि मैं ही सबका बीज हूँ, मेरे बिना कोई भी प्राणी नहीं है । इस प्रकार इन तीन जगह—तीन श्लोकोंमें मुख्य विभूतियाँ बताया गयी हैं और अन्य श्लोकोंमें जो समुदायमें मुख्य हैं, जिनका समुदायपर आधिपत्य है, जिनमें कोई विशेषता है, उनको लेकर विभूतियाँ बताया गयी हैं । परन्तु साधकको चाहिये कि वह इन

विभूतियोंकी महत्ता, विशेषता, सुन्दरता, आपिपत्य आदिकी त
 र्णाल न करे, प्रयुक्त ये सब विभूतियाँ भगवान्मे ही प्रकट हो
 हैं, उनमें जो महत्ता आदि है, वह केवल भगवान्की ही
 विभूतियाँ भगवत्स्वरूप ही हैं—इस तरफ ख्याल रखे। कारण
 अर्जुनका प्रश्न भगवान्के चिन्तनके विषयमें है (१० । १७) कि
 वस्तु, व्यक्तिके चिन्तनके विषयमें नहीं।

‘अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थित’—सामान्य इ
 विभूतियोंका उपयोग कैसे करे ? इसे बताते हैं कि जब साधककी
 दृष्टि प्राणियोंकी तरफ चली जाय तो वह ‘सम्पूर्ण प्राणियोंमें
 आत्मारूपसे भगवान् ही हैं’—इस तरह भगवान्का चिन्तन करे
 जब किसी विचारक साधककी दृष्टि सृष्टिकी तरफ चली जाय तो वह
 ‘उत्पत्ति-विनाशशील और हरदम परिवर्तनशील सृष्टिके आदि, मन्व
 तथा अन्तमें एक भगवान् ही हैं’—इस तरह भगवान्का चिन्तन
 करे। कभी प्राणियोंके मूलकी तरफ उसकी दृष्टि चली जाय तो वह
 ‘बीजरूपसे भगवान् ही हैं, भगवान्के बिना कोई भी चर-अचर
 प्राणी नहीं है और हो सकता भी नहीं’—इस तरह भगवान्का
 चिन्तन करे।

श्लोक—

आदित्यानामह विष्णुर्ज्योतिषा गधिरशुमान् ।

मरीचिर्महतामसि नक्षत्राणामह गशी ॥ २१ ॥*

* इन विभूतियोंमें पृथीका प्रयोग किया गया है। पृथीका प्रयोग
 निवारण अर्थात् सुग्यताके अर्थमें भी होता है और सम्राट्के अर्थमें
 भी। जहाँ निवारणमें पृथी होती है, वहाँ हिंदीकी ‘में’ विभक्तिका प्रयोग

अथ—

मैं अदितिके पुत्रोंमें त्रिष्णु (वामन) और प्रकाशमान चीजोंमें क्रिणोपाञ्च सूर्य हूँ । मे मरुतोका तेज और नक्षत्रोंका अधिपति चद्रमा हूँ ।

व्याख्या—

‘आदित्यानामह त्रिष्णु’—अदितिके धाता, मित्र आदि जितने पुत्र हैं, उनमें ‘त्रिष्णु’ अर्थात् वामन मुख्य हैं । भगवान् ने ही वामन रूपसे अवतार लेकर दत्तोकी सम्पत्तिको दानरूपसे लिया और उसे अदितिके पुत्रों (देवनाओं) को दिला दिया * ।

‘ज्योतिषा रविरशुमान्’—चद्रमा, नक्षत्र, तारा, अग्नि आदि जितनी भी प्रकाशमान चीजें हैं, उनमें क्रिणोपाञ्च सूर्य मेरी विभूति है, क्योंकि प्रकाश करनेमें सूर्यकी मुख्यता है । सूर्यके तेजसे ही सभी प्रकाशमान होते हैं ।

‘मरीचिर्मस्तामसि’—सत्त्वज्योति, आदित्य, हरित आदि नामोंवाले जो उन्चास मस्त हैं, उनका मुख्य तेज मैं हूँ । उस तेजके प्रभावसे ही इन्द्रके द्वारा दितिके गर्भके सात टुकड़े करनेपर और उन सातोंके फिर सात-सात टुकड़े करनेपर भी वे मरे नहीं, प्रत्युत एकसे उन्चास हो गये ।

होता है, और जहाँ सम्बन्धमें पत्नी होती है, वहाँ हिन्दीकी ‘का’ ‘की’ विभक्तियोंका प्रयोग होता है । उदाहरणार्थ, इस श्लोकके पूर्वार्धमें निर्धारणके अर्थमें और उत्तरार्धमें सम्बन्धके अर्थमें पत्नीका प्रयोग हुआ है ।

* वारह महीनोंमें जो वारह आदित्य होते हैं, उनमें कार्तिक मासके सूर्यका नाम भी ‘त्रिष्णु’ है ।

'नक्षत्राणामह शशी'—अश्विनी, भरणी, कृत्तिका आदि जो सत्ताईस नक्षत्र हैं, उन सबका अधिपति चन्द्रमा मैं हूँ ।

इन विभूतियोंमें जो विशेषता—महत्ता बतायी गयी है, वह वास्तवमें भगवान्की है ।

[इस प्रकरणमें जिन विभूतियोंका वर्णन आया है, उनको भगवान्ने विभूतिरूपसे ही कहा है, अपताररूपसे नहीं, जैसे—अदितिके पुत्रोंमें वामन मैं हूँ (१० । २१), शत्रुधारियोंमें राम मैं हूँ (१० । ३१), वृष्णिवशियोंमें वासुदेव (कृष्ण) और पाण्डवोंमें धनञ्जय (अर्जुन) मैं हूँ (१० । ३७) इत्यादि । कारण कि यहाँ प्रसङ्ग विभूतियोंका है ।]

श्लोक—

वेदाना सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासव ।

इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥ २२ ॥

अर्थ—

मैं वेदोंमें सामवेद हूँ, देवताओंमें इन्द्र हूँ, इन्द्रियोंमें मन हूँ और प्राणियोंकी चेतना हूँ ।

व्याख्या—

'वेदाना सामवेदोऽस्मि'—वेदोंकी जो ऋचाएँ स्वरसहित गायी जाती हैं, उनका नाम सामवेद है । सामवेदमें इन्द्ररूपसे भगवान्की स्तुतिका वर्णन है । इस वारते सामवेद भगवान्की विभूति है ।

'देवानामस्मि वासव'—सूर्य, चन्द्रमा आदि जिनमें भी देवता हैं, उन सबमें इन्द्र मुख्य है और सबका अधिपति है । उस

वास्ते भगवान्ने उसको अपनी विभूति बनाया है। नवें अंश के वीसवें श्लोकमें भी भगवान्ने 'माम्' पदसे इन्द्रको अपनी विभूति बताया है* ।

'इन्द्रियाणा मनश्चास्मि'—नेत्र, कान आदि सब इन्द्रियोंमें मन मुख्य है। सब इन्द्रिया मनके साथ रहनेसे (मनको साथमें लेकर) ही काम करती हैं। मन साथमें न रहनेसे इन्द्रिया अपना काम नहीं करतीं। यदि मनका साथ न हो तो इन्द्रियोंके सामने विषय आनेपर भी विषयोका ज्ञान नहीं होता। मनमें यह विशेषता भगवान्से ही आयी है। इस वास्तु भगवान्ने मनको अपनी विभूति बताया है।

'भूतानामस्मि चेतना'—सम्पूर्ण प्राणिजोकी जो चेतना-शक्ति, प्राणशक्ति है, जिससे मरे हुए आदमीकी अपेक्षा सोये हुए आदमीमें निष्कृगता दोखनी है, उसे भगवान्ने अपनी विभूति बताया है।

इन विभूतियोंमें जो विशेषता है, वह भगवान्से ही आयी है। इनकी स्वतन्त्र विशेषता नहीं है।

श्लोक—

रुद्राणा शंकरश्चास्मि विश्वेशो यक्षरक्षसाम् ।
चक्षुना पावकश्चास्मि मेरु शिखरिणामहम् ॥ २३ ॥

* त्रैविद्या मा सोमपा पूतपापा यज्ञेरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।

(गीता ९।२०)

अथ—

स्त्रोमें शक्र और यक्ष-राक्षसोंमें कुबेर मैं हूँ । त्रुओंमें पावक (अग्नि) और शिखरवाले पर्वतोंमें मेर मैं हूँ ।

व्याख्या—

‘शद्राणा शक्रश्चास्मि’—हर, बहुरूप, यम्बक आदि ग्यारह स्त्रोमें शम्भु अर्थात् शक्र सबके अधिपति है । ये कल्याण प्रदान करनेवाले और कल्याणस्वरूप हैं । इस वास्ते भगवान्ने इनको अपनी विभूति बताया है ।

‘वित्तेशो यक्षरक्षसाम्’—कुबेर यक्ष तथा राक्षसोंके अधिपति है, और इनको धनाध्यक्ष पदपर नियुक्त किया गया है । सब यक्ष-राक्षसोंमें मुख्य होनेसे ये भगवान्की विभूति हैं ।

‘वसूना पावकश्चास्मि’—घर, धुन, सोम आदि आठ त्रुओंमें अनल अर्थात् पावक (अग्नि) सबके अधिपति है । ये सब देवताओंको यज्ञकी हवि पहुँचानेवाले तथा भगवान्के मुख हैं । इस वास्ते इनको भगवान्ने अपनी विभूति बताया है ।

‘मेर शिखरिणामहम्’—सोने, चाँदी, ताँबे आदिके शिखरवाले जितने पर्वत हैं, उनमें सुमेरु पर्वत मुख्य है । यह सोने तथा रत्नोंका भण्डार है । इस वास्ते भगवान्ने उसको अपनी विभूति बताया है ।

इस श्लोकमें जो चार विभूतियाँ कही हैं, उनमें जो कुछ विशेषतः महत्ता लीखती है, वह विभूतियोंके मूलरूप परमात्मासे ही आयी है । इस वास्ते इन विभूतियोंमें परमात्माका ही चित्त होना चाहिये ।

श्लोक—

पुरोधसा च मुरय मा विद्धि पार्थ बृहस्पतिम् ।
सेनानीनामहं स्कन्द सरसामसि सागर ॥ २४ ॥

अर्थ—

हे पार्थ । पुरोहितोंमें मुख्य बृहस्पतिको मेरा स्वरूप समझो ।
सेनापतियोंमें स्कन्द और जलाशयोंमें समुद्र मैं हूँ ।

व्याख्या—

‘पुरोधसा च मुरय मा विद्धि पार्थ बृहस्पतिम्’—ससार-
के सम्पूर्ण पुरोहितोंमें और विद्या-बुद्धिमें बृहस्पति सबसे श्रेष्ठ हैं ये
इन्द्रके गुरु तथा देवताओंके कुलपुरोहित हैं । इस वास्ते भगवान् ने
अर्जुनसे बृहस्पतिको अपनी विभूति जानने (मानने) के लिये
कहा है ।

‘सेनानीनामहं स्कन्द’—स्कन्द (कार्तिकेय) शम्बरजीके
पुत्र हैं । इनके उ मुख और चारह हाथ हैं । ये देवताओंके सेनापति
हैं और ससारके सम्पूर्ण सेनापतियोंमें श्रेष्ठ हैं । इस वास्ते भगवान्-
ने इनको अपनी विभूति बताया है ।

‘सरसामसि सागर’—इस पृथ्वीपर जिनने जलाशय हैं,
उनमें समुद्र सबसे बड़ा है । समुद्र सम्पूर्ण जलाशयोंका अधिपति
है और अपनी मर्यादामें रहनेवाला तथा गम्भीर है । इस वास्ते
भगवान् ने इसको अपनी विभूति बताया है ।

यहाँ इन विभूतियोंकी जो अलौकिकता दीखती है, यह उनकी
खुदकी नहीं है प्रत्युत भगवान् की है और भगवान् से ही आयी है ।
इस वास्ते इनको देखनेपर भगवान् की ही स्मृति होनी चाहिये ।

श्लोक—

महर्षीणा भृगुरह गिरामस्येकमक्षरम् ।
यद्यानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणा हिमालय ॥ २५ ॥

अर्थ—

महर्षियोंमें भृगु और वाणियोंमें (शब्दों-) में एक अक्षर अर्थात् प्रणव में हूँ । सम्पूर्ण यज्ञोंमें जपयज्ञ और स्थिर रहनेवालोंमें हिमालय में हूँ ।

व्याख्या—

‘महर्षीणा भृगुरहम्’—भृगु, अग्नि, मरीचि आदि महर्षियोंमें भृगुजी बड़े भक्त, ज्ञानी और तेजस्वी हैं । इन्होंने ही ब्रह्मा, विष्णु और महेश—इन तीनोंकी परीक्षा करके भगवान् विष्णुको श्रेष्ठ सिद्ध किया था । भगवान् विष्णु भी अपने वक्ष स्थलपर इनके चरण-चिह्नको ‘भृगुलता’ नामसे धारण किये रहते हैं । इस वास्ते भगवान्ने इनको अपनी विभूति बताया है ।

‘गिरामस्येकमक्षरम्’—सबसे पहले तीन मात्रा-माला प्रणव प्रकट हुआ । फिर प्रणवसे त्रिपदा गायत्री, त्रिपदा गायत्रीसे वेद, और वेदोंसे शास्त्र, पुराण आदि सम्पूर्ण वाङ्मय जगत् प्रकट हुआ । अतः इन सभका कारण होनेसे और इन सभमें श्रेष्ठ होनेसे भगवान्ने एक अक्षर—प्रणवको अपनी विभूति बताया है । गीतामें अन्यत्र भी इसका वर्णन आता है, जैसे—‘प्रणव सर्ववेदेषु’ (७ । ८)—‘सम्पूर्ण वेदोंमें प्रणव में हूँ, ‘ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मात्म जुस्मरन् । यः प्रयाति त्यजन्देह स याति परमां गतिम् ॥’

(८ । १३) 'जो मनुष्य ॐ—इस एक अक्षर प्रणवका उच्चारण करके और भगवान्‌का स्मरण करके शरीर छोड़कर जाता है, वह परमगतिको प्राप्त होता है' 'तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतप क्रिया । प्रवर्तन्ते विधानोक्ता सतत ब्रह्मवादिनाम्' (१७ । २४) 'वैदिक लोगोकी शास्त्रनिहित यज्ञ, दान और तपरूप क्रियाएँ प्रणवका उच्चारण करके ही आरम्भ होती हैं ।'

'यज्ञाना जपयज्ञोऽस्मि'—मन्त्रोमे जितने यज्ञ किये जाते हैं, उनमें अनेक वस्तु-पदार्थोकी, विधियोकी आवश्यकता पडती है और उनको करनेमें कुउ-न-कुल दोष आ ही जाता है । परन्तु जपयज्ञ अर्थात् भगवन्नामका जप करनेमें किसी पदार्थ या विधिकी आवश्यकता नहीं पडती । इसको करनेमें दोष आना तो दूर रहा, प्रत्युत सभी दोष नष्ट हो जाते हैं । इसको करनेमें सभी स्वतन्त्र हैं । भिन्न-भिन्न सम्प्रदायोमें भगवान्‌के नामोमें अन्तर तो होता है, पर नामजपसे कल्याण होता है—इसको हिन्दू, मुसलमान, बौद्ध, जैन आदि सभी मानते हैं । इस वास्ते भगवान्‌ने जपयज्ञको अपनी विभूति बताया है ।

'स्थावराणा हिमालय'—स्थिर रहनेवाले जितने भी पर्वत हैं, उन सबमें हिमालय तपस्याका स्थल होनेसे महान् पवित्र है और सबका अपिपति है । गंगा, यमुना आदि जितनी तीर्थस्वरूप पवित्र नदियाँ हैं, वे सभी प्रायः हिमालयसे प्रकट होती हैं । भगवत्प्राप्तिमें हिमालय-स्थल बहुत सहायक है । आज भी दीर्घ आयुवाले बड़े-बड़े

योगी और सन्तजन हिमालयकी गुफाओंमें माधन-भजन करते हैं। नर-नारायण ऋषि भी हिमालयमें जगत्के कल्याणके लिये तप भी तपस्या कर रहे हैं। हिमालय भगवान् शङ्करका ससुरा है और स्वयं शङ्कर भी इसीकी एक शिखर—कैलाश पर्यन्त रहते हैं। इस रास्ते भगवान्ने हिमालयको अपनी विभूति बनाया है।

ससारमें जो कुछ भी विशेषता दीखती है, उसको ससारकी माननेसे मनुष्य उसमें फँस जाता है, जिससे उसका पतन होना है। परन्तु भगवान् यहाँ बहुत ही सरल साधन बताते हैं कि तुम्हारा मन जहाँ-कहाँ और जिस-किसी विशेषताको लेकर आकृष्ट होता है वहाँ उस विशेषताको तुम मेरी समझो कि यह विशेषता भगवान्की है और भगवान्से ही आयी है। यह इस परिवर्तनशील नाशमन् संसारकी नहीं है। ऐसा समझोगे, मानोगे तो तुम्हारा वह आकर्षण मेरेमें ही होगा। तुम्हारे मनमें मेरी ही महत्ता हो जायगी। इससे ससारका चिन्तन छूटकर मेरा ही चिन्तन होगा और इससे तुम्हारा मेरेमें प्रेम हो जायगा।

श्लोक—

अश्वत्थ सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारद ।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥ २६ ॥

अथ—

सम्पूर्ण वृक्षोंमें पीपल, देवर्षियोंमें नारद, गन्धर्षियोंमें चित्ररथ और सिद्धोंमें कपिल मुनि मैं हूँ।

व्याख्या—

‘अश्वत्थ सर्ववृक्षाणाम्’—पीपल एक सौम्य वृक्ष है। इसके नीचे हर एक पेड़ लग जाता है, और यह पहाड, मरानकी दीवार, छत आदि कठोर जगहपर भी पैदा हो जाता है। पीपल वृक्षके पूजनकी बड़ी महिमा है। आयुर्वेदमें बहुत-से रोगोका नाश करनेकी शक्ति पीपल वृक्षमें बतायी गयी है। इन सब दृष्टियोंसे भगवान्ने पीपलको अपनी विभूति बताया है।

‘देवर्षीणा च नारद’—देवर्षि भी कई हैं और नारद भी कई हैं, पर ‘देवर्षि नारद’ एक ही हैं, ये भगवान्के मनके अनुसार चलते हैं और भगवान्को जैसी लीला करनी होती है, ये पहलेसे ही वैसी भूमिका तैयार कर देते हैं। इस वास्ते नारदजीको भगवान्का मन कहा गया है। ये सदा वीणा लेकर भगवान्के गुण गाते हुए घूमते रहते हैं। वाल्मीकि और व्यासजीको उपदेश देकर उनको रामायण और भागवत-जैसे ग्रन्थोंके लेखन-कार्यमें प्रवृत्त करानेवाले भी नारदजी ही हैं। नारदजीकी बातपर मनुष्य, देवता, असुर, नाग आदि सभी विश्वास करते हैं। सभी इनकी बातको मानते हैं और इनसे सलाह लेते हैं। महाभारत आदि ग्रन्थोंमें इनके अनेक गुणोंका वर्णन किया गया है। यहाँ भगवान्ने इनको अपनी विभूति बताया है।

‘गन्धर्वाणा चित्ररथ’—स्वर्गके गायकोंको गन्धर्व कहते हैं और उन सभी गन्धर्वोंमें चित्ररथ मुख्य हैं। अर्जुनके साथ इनकी मित्रता रही, और इनसे ही अर्जुनने गान-विद्या सीखी थी। गान-

विधामे अत्यन्त निपुण और गन्धर्भोंमें मुख्य होनेसे भावसे
इन्को अपनी विभूति बताया है ।

‘सिद्धाना कपिलो मुनि’—सिद्ध दो तरहके होते हैं—
एक तो साधन करके सिद्ध बगने हैं और दूसरे जन्मजात सिद्ध
होते हैं । कपिलजी जन्मजात सिद्ध हैं और इन्को आदिसिद्ध क
जाता है । ये कर्दमजीके यहाँ देवहूतिके गर्भसे प्रकट हुए
ये सारथके आचार्य और सम्पूर्ण सिद्धोंके गणाधीश हैं ।
वास्ते भगवान्ने इन्को अपनी विभूति बताया है ।

इस सत्र विभूतियोंमें जो विलक्षणता प्रतीत होती है,
तत्परत परमात्माकी ही है । इस वास्ते साधककी द
में ही रहनी चाहिये ।

श्लोक—

उच्चै श्रवसमभ्याना विद्धि माममृतोद्भवम् ।
ऐरावत गजेन्द्राणा नराणा च नराधिपम् ॥ २७

अथ—

घोड़ोंमें अमृतके साथ समुद्रसे प्रकट होनेवाले उच्चैः
नामक घोड़को, श्रेष्ठ हाथियोंमें ऐरावत नामक हाथीको और मनु
राजाको मेरी विभूति मानो ।

व्याख्या—

‘उच्चैः श्रवसमभ्याना विद्धि माममृतोद्भवम्’—स
मन्यनके समय प्रकट होनेवाले चौदह रत्नोंमें उच्चैः श्रव
भी एक रत्न है । यह इन्द्रका राहन और सम्पूर्ण घोड़ोंका राजा है
इस वास्ते भगवान्ने इसको अपनी विभूति बताया है ।

‘ऐरावतं गजेन्द्राणाम्’—हायियोके समुदायमें जो श्रेष्ठ होता उसको गजेन्द्र कहते हैं। ऐसे गजेन्द्रोंमें भी ऐरावत हाथी ाष्ट है। उच्चै श्रया घोड़ेकी तरह ऐरावत हाथीकी उत्पत्ति भी उमुद्रसे हुई है और यह भी इन्द्रका गहन है। इस वास्त भगवान्ने इसको अपनी विभूति बताया है।

‘नराणा च नराधिपम्’—सम्पूर्ण प्रजाका पालन, सरक्षण, शासन करनेवाला होनेसे राजा सम्पूर्ण मनुष्योंमें श्रेष्ठ है। साधारण मनुष्योंकी अपेक्षा राजामें भगवान्की ज्यादा शक्ति रहती है। इस वास्ते भगवान्ने राजाको अपनी विभूति बताया है*।

इन विभूतियोंमें जो बलवत्ता, सामर्थ्य है, यह भगवान्से ही आयी है। इस वास्ते इसको भगवान्की ही मानकर भगवान्का चिन्तन करना चाहिये।

श्लोक—

आयुधानामहं वज्र धेनूनामस्मि कामधुक् ।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्प सर्पाणामस्मि वासुकि ॥ २८ ॥

अर्थ—

आयुधोंमें वज्र और धेनुओंमें कामधेनु मैं हूँ। सन्तान-उत्पत्तिका हेतु कामदेव मैं हूँ और सर्पोंमें वासुकि मैं हूँ।

व्याख्या—

‘आयुधानामह वज्रम्’—जिनसे युद्ध किया जाता है, उनको आयुध (अस्त्र-शस्त्र) कहते हैं। उन आयुधोंमें इन्द्रका वज्र मुख्य

● यहाँ वतमान मन्व-तरके मनुको भी राजा मान सकते हैं।

है। यह दधीचि ऋषिकी हड्डियोंसे बना हुआ है और इसमें दधीचि ऋषिकी तपस्याका तेज है। इस वास्ते भगवान्ने उज्रको अपनी विभूति कहा है।

‘धेनूनामसि कामधुरु’—नयी व्याधी हुई गायको धेनु कहते हैं। सभी धेनुओंमें कामधेनु मुख्य है, जो समुद्र-मन्यनसे प्रकट हुई थी। यह सम्पूर्ण देवताओं और मनुष्योंकी कामनापूर्ति करनेवाली है। इस वास्ते यह भगवान्की विभूति है।

‘प्रजनश्चासि कन्दर्प’—ससारमात्रकी उत्पत्ति कामने ही होती है। धर्मके अनुकूल केवल सन्तानकी उत्पत्तिके लिये सुखबुद्धिका त्याग करके जिस कामका उपयोग किया जाता है, वह काम भगवान्की विभूति है। सातवें अध्यायके ग्यारहवें श्लोकमें भी भगवान्ने कामको अपनी विभूति बताया है—‘धर्मो विरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ’ अर्थात् मनु प्राणियोंमें धर्मके अनुकूल काम में हूँ।

‘सर्पाणामसि घातुकि’—मासुकि सम्पूर्ण सर्पोंके अपिपति और भगवान्के भक्त हैं। समुद्र-मन्यनके समय इन्हींकी मन्यन-डोरी बनायी गयी थी। इस वास्ते भगवान्ने इनको अपनी विभूति बताया है।

इन विभूतियोंमें जो निरक्षयता दिखायी देती है, यह प्रविश्वग परिवर्तनशील ससारकी हो ही कैसे सकती है! यह तो परमात्माकी ही है।

श्लोक—

अनन्तश्चास्मि नागाना वरुणो यादसामहम् ।
पितृणामर्यमा चास्मि यम सयमतामहम् ॥ २९ ॥

अर्थ—

नागोंमें अनन्त (शेषनाग) और जल-जन्तुओंका अधिपति वरुण मैं हूँ । पितरोंमें अर्यमा और शासन करनेवालोंमें यमराज मैं हूँ ।

व्याख्या—

‘अनन्तश्चास्मि नागानाम्’—शेषनाग सम्पूर्ण नागोंके राजा हैं* ।

इनके एक हजार फण हैं । ये क्षीरसागरमें सदा भगवान्की शय्या बनकर भगवान्को सुख पहुँचाते रहते हैं । ये अनेक बार भगवान्के साथ अपतार लेकर उनकी लीलामें शामिल हुए हैं । इस वास्ते भगवान्ने इनको अपनी विभूति बताया है ।

‘वरुणो यादसामहम्’—वरुण सम्पूर्ण जल-जन्तुओंके तथा जल-देवताओंके अधिपति हैं और भगवान्के भक्त हैं । इस वास्ते भगवान्ने इनको अपनी विभूति बताया है ।

‘पितृणामर्यमा चास्मि’—ऋषयगण, अनल, सोम आदि सात पितृगण हैं । इन सबमें अर्यमा नामवाले पितर मुख्य हैं । इस वास्ते भगवान्ने इनको अपनी विभूति बताया है ।

‘यम सयमतामहम्’—प्राणियोंपर शासन करनेवाले राजा आदि जितने भी अधिकारी हैं, उनमें यमराज मुख्य हैं । ये प्राणियोंको उनके पाप-पुण्योंका फल भुगताकर शुद्ध करते हैं । इनका शासन

* सर्प पृथ्वीपर रहता है और नाग जलमें रहता है—यही सर्प और नागमें अंतर है ।

न्याय और धर्मपूर्वक होता है। ये भगवान्‌के भक्त और लोकपाल भक्त हैं। इस वास्ते भगवान्‌ने इनको अपनी विभूति बताया है ॥

इन विभूतियोंमें जो प्रिलक्षणता दीखती है, यह इनकी व्यक्तिगत कसौटी हो सकती है; वह तो भगवान्‌से ही आयी है और भगवान्‌का ही है। इस वास्ते इनमें भगवान्‌का ही चितन होना चाहिये।

श्लोक—

प्रह्लादश्चासि दैत्याना काल कलयतामहम् ।
मृगाणा च मृगेन्द्रोऽह वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥ ३० ॥

अर्थ—

दैत्योंमें प्रह्लाद और गणना करनेवालोंमें काल मैं हूँ। पशुओंमें सिंह और पक्षियोंमें गरुड मैं हूँ।

व्याख्या—

‘प्रह्लादश्चासि दैत्यानाम्’—जो दितिसे उत्पन्न हुए हैं, उनको दैत्य कहते हैं। उन दैत्योंमें प्रह्लाद मुख्य है और श्रेष्ठ हैं। ये भगवान्‌के परम विश्वासी और निष्काम प्रेमी भक्त हैं। इस वास्ते भगवान्‌ने इनको अपनी विभूति बताया है।

प्रह्लादजी तो बहुत पहले हो चुके थे, पर भगवान्‌ने ‘दैत्योंमें प्रह्लाद मैं हूँ’ ऐसा वर्तमानका प्रयोग किया है। इससे यह सिद्ध होता है कि भगवान्‌के भक्त नित्य रहते हैं और श्रद्धा-भक्तिके अनुसार दर्शन भी दे सकते हैं। उनके भगवान्‌में लीन हो जानेके बाद अगर कोई उनको याद करता है और उनके दर्शन चाहता है, तो उनका रूप धारण करके भगवान्‌ दर्शन देते हैं।

'काल कलयतामहम्'—ज्योतिष-शास्त्रमें काल (समय-) से ही आयुकी गणना होती है। इस वास्ते क्षण, घडी, दिन, पक्ष, मास, वर्ष आदि गणना करनेके साधनोंमें काल भगवान्की विभूति है।

'मृगाणा च मृगेन्द्रोऽहम्'—बाघ, हाथी, चीता, रीठ, आदि जितने भी पशु हैं, उन सबमें सिंह बलवान्, तेजस्वी, प्रभावशाली, शूरीर और साहसी है। यह सब पशुओका राजा है। इस वास्ते भगवान्ने इसको अपनी विभूति बताया है।

'वैनतेयश्च पक्षिणाम्'—विन्ताके पुत्र गरुडजी सम्पूर्ण पक्षियोंके राजा हैं। ये भगवान्के भक्त हैं। ये भगवान् पिण्डुके ग्राहन हैं और जब ये उडते हैं, तब इनके पखोसे खत सामवेदकी ऋचाएँ व्यनित होती हैं। इस वास्ते भगवान्ने इनको अपनी विभूति बताया है।

इन सब विभूतियोंमें अलग-अलग रूपसे जो सुदृश्यता बताया गयी है, वह तत्त्वतः भगवान्की ही है। इस वास्ते इनकी ओर दृष्टि जाते ही खत भगवान्का चिन्तन होना चाहिये।

श्लोक—

पवन पवतामस्मि राम शस्त्रभृतामहम् ।
ह्यपाणा मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाद्वी ॥ ३१ ॥

अर्थ—

पवित्र करनेवालोंमें वायु और शस्त्रधारियोंमें राम मैं हूँ।
जल-जन्तुओंमें मगर मैं हूँ। बहनेवाले स्रोतोंमें गङ्गाजी मैं हूँ।

व्याख्या—

'पवन पवतामस्मि'—वायुसे ही सब चीजें पवित्र होती हैं।

वायुसे ही नीरोगता आती है। इस वास्ते पवित्र करनेवालोंमें भगवान् वायुको अपनी विभूति बताया है।

‘रामः शस्त्रभृतामहम्’—ऐसे तो राम अतार हैं, साक्षात् भग हैं, पर जहाँ शस्त्रधारियोंकी गणना होती है, उन सबमें राम श्रेष्ठ। इस वास्ते भगवान्ने रामको अपनी विभूति बताया है।

‘क्षपाणा मकरश्चासि’—जल-जन्तुओंमें मगर सबसे बड़ा है। इस वास्ते जलचरोंमें मगरको भगवान्ने अपनी विभूति बताया।

‘स्रोतसामसि जाह्नवी’—प्रवाहरूपसे बहनेवाले जितने भी नद, नदी, नाले, झरने हैं, उन सबमें गङ्गाजी श्रेष्ठ हैं। यह भगवान्का खास चरणोदक है। गङ्गाजी अपने दर्शन, स्पर्श आदिसे दुनियाका उद्धार करनेवाली हैं। मरे हुए मनुष्योंकी अस्थियाँ गङ्गाजीमें डालनेसे उनकी सद्गति हो जाती है। इस वास्ते भगवान्ने इसको अपनी विभूति बताया है।

वास्तवमें इन विभूतियोंकी मुख्यता न मानकर भगवान्की ही मुख्यता माननी चाहिये। कारण कि इन सबमें जो विशेषता-महत्ता देखनेमें आती है, वह भगवान्से ही आयी है।

सप्रहयें श्लोकमें अर्जुनके दो प्रश्न हैं—पहला भगवान्को जाननेका (मैं आपको कैसे जानूँ) और दूसरा, जाननेके उपायका (किल-किल भावोंमें मैं आपका चिन्तन करूँ)। इन दोनोंमेंसे उपाय तो है—विभूतियोंमें भगवान्का चिन्तन करना और उस चिन्तनका फल (मतीजा) होगा—सब विभूतियोंके मूलमें भगवान्को तत्त्वसे जानना। जैसे, शस्त्रधारियोंमें श्रीरामको और षष्णियोंमें वासुदेव (अपने-) को

भगवान्ने अपनी विभूति बताया । यह तो उस समुदायमें विभूतिरूपसे श्रीरामका और वासुदेवका चिंतन करनेके लिये बताया और उनके चिंतनका फल होगा—श्रीरामको और वासुदेवको तत्त्वसे भगवान् जान जाना । यह चिन्तन करना और भगवान्को तत्त्वसे जानना सभी विभूतियोंके ग्रियमें समझना चाहिये ।

ससारमें जहाँ-कहीं भी जो कुछ विशेषता, निष्कणता, सुन्दरता दीखती है, उसको वस्तु-व्यक्तिकी माननेसे फँसापट होती है अर्थात् मनुष्य उस विशेषता आदिको ससारकी मानकर उसमें फँस जाता है । इस वास्ते भगवान्ने यहाँ मनुष्यमात्रके लिये यह बताया है कि तुमलोग उस विशेषता, सुन्दरता आदिको वस्तु-व्यक्तिका मत मानो । प्रत्युत मेरी और मेरेसे ही आयी हुई मानो । ऐसा मानकर मेरा चिन्तन करोगे तो तुम्हारा ससारका चिन्तन तो टूट जायगा और उस जगह में आ जाऊँगा । इसका नतीजा (परिणाम) यह होगा कि तुमलोग मेरेको तत्त्वसे जान जाओगे । मेरेको तत्त्वसे जाननेपर मेरेमें तुम्हारी दृढ भक्ति हो जायगी (गीता १० । ७) ।

श्लोक—

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्य चैवाहमर्जुन ।
अध्यात्मविद्या विद्याना चाट प्रवदतामहम् ॥ ३२ ॥

अर्थ—

हे अर्जुन ! सम्पूर्ण सर्गके आदि, मध्य तथा अन्तमें मैं ही हूँ विद्याओंमें अध्यात्मविद्या और परस्पर शास्त्रार्थ करनेवालोंका (तत्त्व-निर्णयके लिये किया जानेवाला) वाद मैं हूँ ।

वायुसे ही नीरोगता आती है। इस वास्ते पवित्र करनेवालोंमें भगवान् वायुको अपनी विभूति बताया है।

‘रामः शस्त्रभृतामहम्’—ऐसे तो राम अवतार हैं, साक्षात् भगवान् हैं, पर जहाँ शस्त्रधारियोंकी गणना होनी है, उन सबमें राम श्रेष्ठ हैं। इस वास्ते भगवान्ने रामको अपनी विभूति बताया है।

‘क्षपाणा मकरश्चास्मि’—जल-जन्तुओंमें मगर सबसे बड़ा है। इस वास्ते जलचरोंमें मगरको भगवान्ने अपनी विभूति बनाया है।

‘स्रोतन्मामस्मि जाद्वर्षी’—प्रवाहरूपसे बहनेवाले जितने भी नद, नदी, नाले, झरन हैं, उन सबमें गङ्गाजी श्रेष्ठ हैं। यह भगवान्का खास चरणोदक है। गङ्गाजी अपने दर्शन, स्पर्श आदिसे दुनियाका उद्धार करनेवाली है। मरे हुए मनुष्योंकी अस्थियाँ गङ्गाजीमें डालनेसे उनकी सद्रति हो जाती है। इस वास्ते भगवान्ने इसको अपनी विभूति बताया है।

वास्तवमें इन विभूतियोंकी मुख्यता न मानकर भगवान्की ही मुख्यता माननी चाहिये। कारण कि इन सबमें जो विशेषता-महत्ता देखनेमें आती है, वह भगवान्से ही आयी है।

सत्रहवें श्लोकमें अर्जुनके दो प्रश्न हैं—पहला भगवान्को जाननेका (मैं आपको कैसे जानूँ) और दूसरा, जाननेके उपायका (किन-किन भावोंमें मैं आपका चिन्तन करूँ)। इन दोनोंमेंसे उपाय तो है—विभूतियोंमें भगवान्का चिन्तन करना और उस चिन्तनका फल (नतीजा) होगा—सब विभूतियोंके मूलमें भगवान्को तत्त्वसे जानना। जैसे, शस्त्रधारियोंमें श्रीरामको और वृष्णियोंमें वासुदेव (अपने-) को

भगवान् ने अपनी विभूति बताया। यह तो उस समुदायमें विभूतिरूपसे श्रीरामका और वासुदेवका चिन्तन करनेके लिये बताया और उनके चिन्तनका फल होगा—श्रीरामको और वासुदेवको तत्त्वसे भगवान् जानना। यह चिन्तन करना और भगवान् को तत्त्वसे जानना सभी विभूतियोंके विषयमें सम्यक्ना चाहिये।

ससारमें जहाँ-कहाँ भी जो कुछ विशेषता, विलक्षणता, सुन्दरता दीखती है, उसको वस्तु-व्यक्तिकी माननेसे फँसापट होती है अर्थात् मनुष्य उस विशेषता आदिको ससारकी मानकर उसमें फँस जाता है। इस वास्ते भगवान् ने यहाँ मनुष्यमात्रके लिये यह बताया है कि तुमलोग उस विशेषता, सुन्दरता आदिको वस्तु-व्यक्तिका मत मानो। प्रत्युत मेरी और मेरेसे ही आयी हुई मानो। ऐसा मानकर मेरा चिन्तन करोगे तो तुम्हारा ससारका चिन्तन तो छूट जायगा और उस जगह में आ जाऊँगा। इसका नतीजा (परिणाम) यह होगा कि तुमलोग मेरेको तत्त्वसे जान जाओगे। मेरेको तत्त्वसे जाननेपर मेरेमें तुम्हारी दृढ़ भक्ति हो जायगी (गीता १०।७)।

श्लोक—

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्य चैवाहमर्जुन ।
अध्यात्मविद्या विद्याना चाट प्रवदतामहम् ॥ ३२ ।

अर्थ—

हे अर्जुन ! सम्पूर्ण सगोत्रि आदि, मध्य तथा अन्तमें मैं ही हूँ विद्याओंमें अध्यात्मविद्या और परस्पर शास्त्रार्थ करनेवालोंका (तत्त्व निर्णयके लिये किया जानेवाला) गढ़ मैं हूँ ।

व्याख्या—

‘सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहम्’—जितने सर्ग और महज होते हैं अर्थात् जिनने प्राणियोंकी उत्पत्ति होती है, उनके अन्त में रहता हूँ, उनके मध्यमें मैं रहता हूँ और उनके अन्तमें (अन्त लीन होनेपर) भी मैं रहता हूँ। तात्पर्य है कि सब कुछ वासुदेव ही है। अतः मात्र ससारको, प्राणियोंको देखते ही भगवान्की याद आनी चाहिये।

‘अध्यात्मविद्या विद्यानाम्’—जिस विद्यासे मनुष्यका कल्याण हो जाता है, वह ‘अध्यात्मविद्या’ कहलाती है*। दूसरी सासारिकी विद्या ही विद्या पढ लेनेपर भी पढ़ना बाकी ही रहता है, परन्तु इस अध्यात्मविद्याके प्राप्त होनेपर पढ़ना अर्थात् जानना बाकी नहीं रहता—‘यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते’ (गीता ७३) इस वास्ते भगवान्ने इसको अपनी विभूति बताया है।

‘वाढ प्रवक्षतामहम्’—आपसमें जो शास्त्रार्थ किया जाता है, वह तीन प्रकारका होता है—

(१) जल्प—युक्ति-प्रयुक्तिसे अपने पक्षका मण्डन और दूसरे पक्षका खण्डन करके अपने पक्षकी जीत और दूसरे पक्षकी हार

* अध्यात्मविद्या और राजविद्या—इन दोनोंमें अन्तर है। अध्यात्म विद्यामें निर्गुण-स्वरूपकी मुख्यता है और राजविद्यामें सगुण-स्वरूपकी मुख्यता है। ससारका अभाव करके निर्गुण परमात्माको जानना अध्यात्म विद्या है। सब देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति, घटना आदिमें व्यापकरूपसे नित्य निरंतर रहनेवाले सगुण परमात्माको जानना राजविद्या है।

करनेकी भावनासे जो शास्त्रार्थ किया जाता है, उसको 'जल्प' कहते हैं ।

(२) पितृण्डा—अपना कोई भी पक्ष न रखकर केवल दूसरे पक्षका खण्डन-ही-खण्डन करनेके लिये जो शास्त्रार्थ किया जाता है, उसको 'पितृण्डा' कहते हैं ।

(३) वाद—बिना किसी पक्षपातके केवल तर्ज निर्णयके लिये आपसमें जो शास्त्रार्थ (विचार-विनिमय) किया जाता है, उसको 'वाद' कहते हैं ।

उपर्युक्त तीनों प्रकारके शास्त्रार्थमें 'वाद' श्रेष्ठ है । इसी वादको भगवान्ने अपनी विभूति बताया है ।

श्लोक—

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वं सामासिकस्य च ।
अहमेवाक्षयं कालो धाताह विश्वतोमुखः ॥ ३३ ॥

अर्थ—

अक्षरोंमें अकार और समासोंमें द्वन्द्व समास में हूँ । अक्षयकाल अर्थात् कालका भी महाकाल तथा सन और मुखवाला धाता भी मैं हूँ ।

व्याख्या—

'अक्षराणामकारोऽस्मि'—वर्णमालामें सर्वप्रथम अकार आता है । स्वर और व्यञ्जन—दोनोंमें अकार मुख्य है । अकारके बिना व्यञ्जनोंका उच्चारण नहीं होता । इस वास्ते अकारको भगवान्ने अपनी विभूति बताया है ।

‘द्वन्द्व. सामासिकस्य च’—जिससे दो या दोसे अर्थक शब्दों को मिलाकर एक शब्द बनता है, उसको समास कहते हैं। समास कई तरहके होते हैं। उनमें अव्ययीभाव, तत्पुरुष, बहुव्रीहि व द्वन्द्व—ये चार मुख्य हैं। दो शब्दोंके समासमें यदि पहला प्रधानता रखता है तो वह ‘अव्ययीभाव समास’ होता है। यदि आगेका शब्द प्रधानता रखता है तो वह ‘तत्पुरुष समास’ होता है। यदि दोनों शब्द अन्यके वाचक होते हैं तो वह ‘बहुव्रीहि समास’ होता है। यदि दोनों शब्द प्रधानता रखते हैं तो वह ‘द्वन्द्व समास’ होता है।

द्वन्द्व समासमें दोनों शब्दोंका अर्थ मुख्य होनेसे भगवान् इसको अपनी विभूति बताया है।

‘अहमेवाक्षय काल’—जिस कालका कभी क्षय नहीं होता अर्थात् जो कालातीत है और अनादि-अनन्तरूप है, वह काल भगवान् ही हैं।

सर्ग और प्रलयकी गणना तो सूर्यसे होती है, पर महाप्रलयमें जब सूर्य भी लीन हो जाता है, तब समयकी गणना परमात्मासे ही होती है *। इस वास्ते परमात्मा अक्षय काल हैं।

* महाप्रलयमें ब्रह्माजी लीन हो जाते हैं। महामार्गका अर्थात् ब्रह्माजीकी उमरका जितना समय होता है, उतना ही समय महाप्रलयका होता है। अतः इतने लम्बे (महाप्रलयके) समयकी गणना अक्षयकालरूप परमात्मासे ही होती है।

तीसरे श्लोकके 'काल कलयतामहम्' पदोंमें आये 'काल'-में और यहाँ आये 'अक्षय काल'में क्या अन्तर है ? यहाँका जो 'काल' है, वह एक क्षण भी स्थिर नहीं रहता, बदलता रहता है। वह काल ज्योतिषशास्त्रका आधार है और उसीसे ससारमात्रके समयकी गणना होती है। यहाँका जो 'अक्षय काल' है, वह परमामस्वरूप होनेसे कभी बदलता नहीं। वह अक्षय काल सबको खा जाता है और स्वयं ज्यों-का-स्यों ही रहता है, अर्थात् उसमें कभी कोई प्रकार नहीं होता। उसी अक्षय कालको यहाँ भगवान्ने अपनी विभूति बताया है। आगे ग्यारहवें अध्यायमें भी भगवान्ने 'कालोऽस्मि' (११ । ३२) पदसे अक्षय कालको अपना स्वरूप बताया है।

'धाताह विश्वतोमुख'—सब ओर मुखवाले होनेसे भगवान्की दृष्टि सभी प्राणियोंपर रहती है। इस वास्ते सबका धारण-पोषण करनेमें भगवान् बहुत साग्रान रहते हैं। किस प्राणीको कौन-सी वस्तु क्या मिलनी चाहिये, इसका भगवान् खूब ख्याल रखते हैं और समयपर उस वस्तुको पहुँचा देते हैं। इसलिये भगवान्ने अपना विभूतिरूपसे उर्गन क्रिया है।

श्लोक—

मृत्यु सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम् ।
कीर्तिं श्रीर्वाक्च नारीणा स्मृतिर्मेधा धृति क्षमा ॥ ३४ ॥

अर्थ—

सबका हरण करनेवाली मृत्यु और उत्पन्न होनेवालोंका उद्भव मैं हूँ। स्त्री-जानिमें कीर्ति, श्री, वाक्, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा मैं हूँ।

व्याख्या—

‘मृत्यु सर्वहरश्चाहम्’ मृत्युमें हरण करनेकी ऐसी विश्व-सामर्थ्य है कि मृत्युके बाद यहाँकी स्मृतिनरु नहीं रहती, सब कुछ अपहृत हो जाता है । वास्तवमें यह सामर्थ्य मृत्युकी नहीं है, परन्तु परमात्माकी है ।

अगर सम्पूर्णका हरण करनेकी, निस्मृत करनेकी भगवत्प्रद सामर्थ्य मृत्युमें न होती तो अपनेपनके सम्बन्धको लेकर जैसी चिन्ता इस जन्ममें मनुष्यको होती है, वैसी ही चिन्ता पिछले जन्मके सम्बन्धको लेकर भी होती । मनुष्य न जाने किसने जन्म ले चुका है । अगर उन जन्मोंकी याद रहती तो मनुष्यकी चिन्ताओंका, उसके मोहका कभी अन्त आता ही नहीं । परन्तु मृत्युके द्वारा निस्मृति होनेसे पूर्वजन्मोंके कुटुम्ब, सम्पत्ति आदिकी चिन्ता नहीं होती । इस तरह मृत्युमें जो चिन्ता, मोह मिटानेकी सामर्थ्य है, वह सब भगवान्की ही है ।

‘उद्भवश्च भविष्यताम्’—जैसे पूर्वश्लोकमें भगवान्ने बताया कि सबका धारण-पोरण करनेवाला मैं ही हूँ, वैसे ही यहाँ बताया है कि सब उत्पन्न होनेवाली उत्पत्तिका हेतु भी मैं ही हूँ । तात्पर्य है कि ससारकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करनेवाला मैं ही हूँ ।

‘कीर्तिं श्रीर्वाक्च नारीणा स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा’—कीर्ति, श्री, वाक्, स्मृति, मेधा धृति और क्षमा—ये माता ससारभरणी स्त्रियोंमें श्रेष्ठ मानी गयी हैं । इनमेंसे कीर्ति, स्मृति, मेधा, धृति और

क्षमा—ये पाँच प्रजापति दक्षकी कन्याएँ हैं, 'श्री' महर्षि भृगुकी कन्या है, और 'वाक्' ब्रह्माजीकी कन्या है।

कीर्ति, श्री, वाक्, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा—ये सातों क्षीयाचक नामवाले गुण भी ससारमें प्रसिद्ध हैं। सद्गुणोंको लेकर ससारमें जो प्रसिद्धि है, प्रतिष्ठा है, उसको 'कीर्ति' कहते हैं।

स्थार और जङ्गम—यह दो प्रकारका ऐश्वर्य होता है। जमीन, मकान, धन, सम्पत्ति आदि स्थार ऐश्वर्य है, और गाय, भैंस, घोडा ऊँद, हाथी आदि जङ्गम ऐश्वर्य है। इन दोनों ऐश्वर्योंको 'श्री' कहते हैं।

जिस वाणीको धारण करनेसे ससारमें यश-प्रतिष्ठा होती है और जिससे मनुष्य पण्डित, विद्वान् कहलाता है, उसको 'वाक्' कहते हैं।

पुरानी सुनी-समझी बातकी फिर याद आनेका नाम 'स्मृति' है।

बुद्धिकी जो स्थायीरूपमें धारण करनेकी शक्ति है अर्थात् जिस शक्तिसे बिना ठीक तरहसे याद रहती है, उस शक्तिका नाम 'मेधा' है।

मनुष्यको अपने सिद्धान्त, मान्यता आदिपर टटे रखने तथा उनसे विचलित न होने देनेकी शक्तिका नाम 'धृति' है।

दूसरा कोई बिना कारण अपराध कर दे, तो अपनेमें दण्ड देनेकी शक्ति होनेपर भी उसे दण्ड न देना और उसे लोक-परलोकमें कहीं भी उस अपराधका दण्ड न मिले—इस तरहका भाव रखते हुए उसे माफ कर देनेका नाम 'क्षमा' है।

कीर्ति, श्री और वाक्—ये तीन प्राणियोंके बाहर प्रकट होने वाली विशेषताएँ हैं तथा स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा—ये चार प्राणियोंके भीतर प्रकट होनेवाली विशेषताएँ हैं । इन सातों विशेषताओंको भगवान् ने अपनी विभूति बनाया है ।

यहाँ जो विशेष गुणोंको विभूतिरूपसे कहा है, उसका तात्पर्य केवल भगवान् की तरफ लक्ष्य करानेमें है । जिस व्यक्तिमें ये गुण दिखायी दें, उस व्यक्तिकी विशेषता न मानकर भगवान् की ही विशेषता माननी चाहिये और भगवान् की ही याद आनी चाहिये । यदि, गुण अपनेमें दिखायी दें तो इनको भगवान् के ही मानने चाहिये, अन्यथा नहीं । कारण कि यह दश- (भगवान् की) सम्पत्ति है, जो भगवान् से ही प्रकट हुई है । इन गुणोंको अपना मान लेनेसे अभिमान पैदा होता है, जिससे पतन हो जाता है, क्योंकि अभिमान सम्पूर्ण आधुनिक-सम्पत्तिका जनक है ।

साधकोंको जिस-किसीमें जो कुछ विशेषता, सामर्थ्य दीखे, उसे उस वस्तु-व्यक्तिका न मानकर भगवान् का ही मानना चाहिये । जैसे, ज्योतिष ऋषिके शापसे काकमुशुण्डि ब्राह्मणसे चाण्डाल पक्षी बन गये, पर उनको न भय हुआ, न किसी प्रकारकी दीनता आयी और न कोई विचार ही हुआ, प्रयुक्त उनको खुशी ही हुई । कारण कि उन्होंने इसमें ऋषिका दोष न मानकर भगवान् की प्रेरणा ही मानी—सुतु-खगेस नहि कट्टु रिपि दूपन । उर प्रेरक रकुजस विभूयन ॥ (मानस ७ । ११२ । १) । ऐसे ही मनुष्य सब वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति आदिके मूळमें भगवान् को देखने लगे तो हर समय आनन्द-ही-आनन्द रहेगा ।

श्लोक—

बृहत्साम तथा साम्ना गायत्री छन्दसामहम् ।

मासाना मार्गशीर्षोऽहमृतूना कुसुमाकरः ॥ ३५ ॥

अर्थ—

गायी जानेवाली श्रुतियोंमें बृहत्साम और वेदोके छन्दोंमें गायत्री छन्द में हूँ । वारह महीनोंमें मार्गशीर्ष और छ ऋतुओंमें उत्तम मैं हूँ ।

व्याख्या—

‘बृहत्साम तथा साम्नाम्’—सामवेदमें ‘बृहत्साम’ नामक एक गीति है । इसके द्वारा इन्द्ररूप परमेश्वरकी स्तुति की गयी है । अतिरात्रयागमें यह एक पृष्ठस्तोत्र है । सामवेदमें सबसे श्रेष्ठ होनेसे इस बृहत्सामको भगवान्ने अपनी विभूति बताया है* ।

‘गायत्री छन्दसामहम्’—वेदोंकी जितनी छन्दोबद्ध ऋचाएँ हैं उनमें गायत्रीकी मुख्यता है । गायत्रीको वेद-अन्ननी कहते हैं, क्योंकि इसीसे वेद प्रकट हुए हैं । स्मृतियों और शास्त्रोंमें गायत्रीकी बड़ी भारी महिमा गायी गयी है । गायत्रीमें स्वरूप, प्रार्थना और ध्यान—तीनों परमात्माके ही होनेसे इससे परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति होती है । इस नास्ते भगवान्ने गायत्रीको अपनी विभूति बताया है ।

‘मासाना मार्गशीर्षोऽहम्’—जिस अन्नसे सम्पूर्ण प्रजा जीवित रहती है, उस (नर्गसे होनेवाले) अन्नकी उत्पत्ति मार्गशीर्ष

* इस (दसवें) अध्यायके ऋषिर्षे श्लोकमें भगवान्ने वेदोंमें ‘सामवेद’ को अपनी विभूति बताया है, और यहाँ पैंतौसवें श्लोकमें भगवान्ने सामवेदमें भी ‘बृहत्साम’ को अपनी विभूति बताया है ।

महीनेमें होती है । इस महीनेमें नये अन्नसे यज्ञ भी स्रि
जाता है । महाभारत-कालमें नया वर्ष मार्गशीर्षसे ही आरम्भ हो
या । इन विशेषताओके कारण भगवान्ने मार्गशीर्षको अपनी विभूति
बताया है ।

‘ऋतूना कुसुमाकर — वसन्त ऋतुमें बिना सर्पके ही वृ
ळता आदि पत्र-पुष्पोंसे युक्त हो जाते हैं । इस ऋतुमें न अग्नि
गरमी रहती है और न अधिक सर्दी । इस वास्ते भगवान्ने वस
ऋतुको अपनी विभूति कहा है ।

इन सब विभूतियोंमें जो महत्ता, विशेषता टीखती है, वह
केवल भगवान्की ही है । इस वास्ते चिन्तन केवल भगवान्का ही
होना चाहिये ।

श्लोक—

धृत छलयतामसि तेजस्तेजस्विनामहम् ।
जेयोऽसि व्यवसायोऽसि सत्त्व सत्त्ववतामहम् ॥ ३६ ॥

अर्थ—

छल करनेवालोंमें जूआ और तेजस्वियोंमें तेज मैं हूँ । जीतनेवालों
की विजय, निश्चय करनेवालोंका निश्चय और सात्त्विक पुरुषोंका
सात्त्विक भाव मैं हूँ ।

व्याख्या—

‘धृत छलयतामसि’—छल करके दूसरोके राज्य, वैभन, धन,
सम्पत्ति आदिका (सर्वस्वका) अपहरण करनेकी विशेष सामर्थ्य
रखनेवाली जो प्रिया है, उसको जूआ कहते हैं । इस जूएको भगवान्ने
अपनी विभूति बताया है ।

शङ्का—यहाँ भगवान् ने छल करनेवालोंमें जूएको अपनी विभूति बताया है तो फिर इसके खेलनेमें क्या दोष है ? अगर दोष नहीं है तो फिर शास्त्रोंने इसका निषेध क्यों किया है ?

समाधान—‘ऐसा करो और ऐसा मन करो’—यह शास्त्रोंका विधि-निषेध कहलाता है। ऐसे विधि-निषेधका वर्णन यहाँ नहीं है। यहाँ तो विभूतियोंका वर्णन है। ‘मैं आपका चिन्तन कहाँ-कहाँ करूँ’—अर्जुनके इस प्रश्नके अनुसार भगवान् ने विभूतियोंके रूपमें अपने चिन्तनका बात ही बताया है अर्थात्-भगवान् का चिन्तन सुामनासे हो जाय, इसका उपाय विभूतियोंके रूपमें बताया है। इस वास्ते जिस समुदायमें मनुष्य रहता है, उस समुदायमें जहाँ दृष्टि पड़े, वहाँ ससारको न देखकर भगवान् को ही देखे, क्योंकि भगवान् कहते हैं कि यह सम्पूर्ण जगत् मेरेसे व्याप्त है अर्थात् इस जगत्में मैं ही व्याप्त हूँ, परिपूर्ण हूँ (गीता ९ । ४)।

जैसे क्रिमी सायनका पहले जूआ खेलनेका व्यसन रहा हो और अब वह भगवान् के भजनमें लगा है। उसको कभी जूआ याद आ जाय तो उस जूएका चिन्तन छोड़नेके लिये वह उसमें भगवान् का चिन्तन करे कि इस जूएके खेलमें हार-जीतकी जो विशेषता है, वह भगवान् की ही है। इस प्रकार जूएमें भगवान् को देखनेसे जूएका चिन्तन तो छूट जायगा और भगवान् का चिन्तन होने लगेगा। ऐसे ही क्रिमी दूसरेको जूआ खेले देखा और उसमें हार-जीतको देखा, तो हराने और जितानेकी शक्तिको जूएकी ब मानकर भगवान् की ही माने। कारण कि खेल तो समाप्त हो रहा।

है और समाप्त हो जायगा, पर परमात्मा उसमें निरन्तर रहते हैं और रहेंगे । इस प्रकार ज्ञा आदिको विभूति कहनेका तात्पर्य भगवान्‌के चिन्तनमें है* ।

‘तेजस्तेजस्विनामहम्’†—महापुरुषोंके उस देवी-सम्पत्तिवाले प्रभातका नाम तेज है, जिसके सामने पापी पुरुष भी पाप करनेमें हिचकते हैं । इस तेजको भगवान्‌ने अपनी विभूति बताया है ।

‘जयोऽस्मि—विजय प्रत्येक प्राणीको प्रिय लगती है । विजयकी यह विशेषता भगवान्‌की है । इस गारते विजयको भगवान्‌ने अपनी विभूति बताया है ।

अपने मनके अनुसार अपनी विजय होनेसे जो सुख होता है, उसका उपभोग न करके उसमें भगवद्बुद्धि करनी चाहिये कि विजयरूपसे भगवान्‌ आये है ।

‘व्यवसायोऽस्मि’—व्यवसाय नाम एक निश्चयका है । इस एक निश्चयकी भगवान्‌ने गीतामें बहुत महिमा गायी है, जैसे—कर्मयोगीकी निश्चयात्मिका बुद्धि एक होती है—‘व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह’(२ । ४१), भोग और ऐश्वर्यमें आसक्त पुरुषोंकी निश्चयात्मिका बुद्धि नहीं होती—‘भोगैश्वर्यप्रसक्ताना तयापटतचेतसाम् ।

* किसी ग्रन्थके किसी अक्षर पर शङ्का हो, तो उस ग्रन्थका आदिसे अन्ततक अध्ययन करके उसमें वक्ताके उद्देश्यको, लक्ष्यको और आशयको समझनेसे उस शङ्काना समाधान हो जाता है ।

† सातवें अध्यायमें जहाँ भगवान्‌ने कारणरूपसे विभूतियोंका घटन किया है, वहाँ भी यही पद आया है—‘तेजस्तेजस्विनामहम्’ (७ । १०) ।

व्यवसायात्मिका बुद्धि समाधौ न विधीयते ॥' (२ । ४४)
 'अब तो मे जेवल भगवान्‌का भजन ही करूँगा'—इस
 एक निश्चयके बलपर दुराचारी-से-दुराचारी मनुष्यको भी भगवान् साधु
 बनाते हैं—'साधुरेव स मन्तव्य सम्यग्व्यवसितो हि स'
 (२ । ३०) । इस प्रकार भगवान्‌की तरफ चलनेका जो निश्चय
 है, उसको भगवान्‌ने अपनी विभूति बताया है ।

निश्चयको अपनी विभूति बतानेका तात्पर्य है कि साधकको
 ऐसा निश्चय तो रखना ही चाहिये, पर इसको अपना गुण
 नहीं मानना चाहिये, प्रत्युत ऐसा मानना चाहिये कि यह भगवान्‌की
 विभूति है और उन्हींकी कृपासे मुझे प्राप्त हुई है ।

'सत्त्व सत्त्वयतामहम् —सात्त्विक पुरुषोमें जो सत्त्वगुण है, जो
 सात्त्विक भाव और आचरण है, यह भी भगवान्‌की विभूति है ।
 तात्पर्य है कि रजोगुण और तमोगुणको दबाकर जो सात्त्विक भाव
 बढ़ता है, उस सात्त्विक भावको साधक अपना गुण न मानकर भगवान्‌की
 विभूति माने ।

तेज, व्यवसाय, सात्त्विक भाव आदि अपनेमें अथवा औरोंमें
 देखनेमें आये तो साधक इनको अपना अथवा किसी वस्तु-व्यक्तिका
 गुण न माने, प्रत्युत भगवान्‌का ही गुण माने । उन गुणोंकी
 तरफ दृष्टि जानेपर उनमें तत्पत भगवान्‌को देखकर भगवान्‌को
 ही याद करना चाहिये ।

श्लोक—

वृष्णीना वासुदेवोऽस्मि पाण्डवाना धनञ्जय ।

मुनीनामप्यह व्यास कवीनामुशना कवि ॥ ३७ ॥

॥ १० ॥ ॥ अर्थ—ननु श्रीकृष्णजीके

वृष्णिवशिपोमें वसुदेव और पाण्डवोंमें वनजय मैं हूँ।
मुनियोंमें वेदव्यास और कपियोंमें शुक्राचार्य भोः मैं हूँ।

॥ ११ ॥ ॥ व्याख्या—

‘वृष्णांना वासुदेवोऽस्मि’—यहाँ, भगवान् श्रीकृष्णके अपनारका
वर्णन नहीं है, प्रयुक्त वृष्णिवशिपोमें जो, विशेषता है, उस विशेषताको
लेकर भगवान्ने अपना विभूतिरूपसे वर्णन किया है।

यहाँ भगवान्का अपनेको विभूतिरूपसे कहना तो ससारकी दृष्टिसे
है, स्वरूपकी दृष्टिसे तो वे साक्षात् भगवान् ही हैं। इस अध्यायमें
जितनी विभूतियाँ आयी हैं, वे सब ममारकी दृष्टिसे ही हैं। तत्त्व
तो वे सभी परमात्मस्वरूप ही हैं।

‘पाण्डवाना धनञ्जय’—पाण्डवोंमें अर्जुनकी जो विशेषता है,
उह विशेषता भगवान्की ही है। इस रास्ते भगवान्ने अर्जुनको
अपनी विभूति बताया है।

‘मुनीनामप्यह व्यास’—वेदका चार भागोंमें विभाग, पुष्पण,
उपपुराण, महाभारत आदि जो कुछ मस्कृत ग्रन्थ है, उह सब का-
सब व्यासजीकी कृपाका, ही फल है। अज भी कोई नया रचना
करता है तो उमे भी व्यासजीका ही उच्छिष्ट माना जाता है। कहा
भी है—‘व्यासोच्छिष्ट जगत्सर्वम्’। इस तरह, सब मुनियोंमें
व्यासजी मुख्य हैं। इस रास्ते भगवान्ने व्यासजीको अपनी विभूति
बताया है। तापर्य है कि व्यासजीमें विशेषता दोपने ही भगवान्को
याद आनी चाहिये कि यह सब विशेषता, भगवान्को ही और
भगवान्से ही आयी है।

‘ऋषीनामुशना ऋषिः’—शास्त्रीय सिद्धान्ताको ठीक तरहसे जाननेवाले जिनने भी पण्डित हैं, वे सभी ‘ऋषि’ कहलाते हैं। उन सब ऋषियोंमें शुक्राचार्य मुख्य हैं। शुक्राचार्यजी सजीवनी त्रिधाके जानकार हैं। इनकी शुक्रनीति प्रसिद्ध है। इस प्रकार अनेक गुणोंके कारण भगवान्ने इनको अपनी विभूति बनाया है।

इन विभूतियोंकी महत्ता देखकर कहीं भी बुद्धि अटके, तो उस महत्ताको भगवान्की ही माननी चाहिये, क्योंकि वह महत्ता एक क्षण भी स्थायीरूपसे न टिकनेवाले समारम्भ नहीं हो सकती।

श्लोक—

दृष्टो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम्।
मानं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ॥ ३८ ॥

अर्थ—

दमन करनेवालेमें दण्डनीति और विजय चाहनेवालोंमें नीति मैं हूँ। गोपनीय भावोंमें मान और ज्ञानवानोंमें ज्ञान मे हूँ।

व्याख्या—

‘दृष्टो दमयतामस्मि’—दृष्टोको दृष्टनासे अर्थात् समर्गपर लानेके लिये दण्डनीति मुख्य है। इस वास्ते भगवान्ने इसको अपनी विभूति बनाया है।

‘नीतिरस्मि जिगीषताम्’—नीतिको आश्रय लेनेमें ही मनुष्य विजय प्राप्त करता है और नीतिसे ही विजय उहस्ता है। इस वास्ते नीतिको भगवान्ने अपनी विभूति बनाया है।

‘मौन’ चैवास्मि गुह्यानाम्—गुप्त रखनेयोग्य नितन भ हैं, उन सबमें मनन करना मुख्य है । मनन करनेमें भी परमात्मक मनन करना मुख्य है, क्योंकि परमात्माका मनन करनेसे ही अस्तित्वका ज्ञान होता है । इस रास्ते गोपनीय भावोंमें भगवान्ने मौन अपनी विभूति बताया है ।

‘ज्ञान ज्ञानवतामहम्’—ससारमें कला-क्राशत्र आदिको जानने वालोंमें जो ज्ञान (जानकारी) है, वह भगवान्की विभूति है तात्पर्य है कि ऐसा ज्ञान अपनेमें और दूसरोंमें देखनेमें आये तो ही भगवान्की ही विभूति माने ।

इन सब विभूतियोंमें जो ‘प्रिलक्षणता’ है, वह इनकी व्यक्ति नहीं है, प्रत्युत परमात्माकी ही है । इसलिये परमात्माकी तरफ ही दृष्टि जानी चाहिये ।

श्लोक—

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।

न तदस्ति धिना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥ ३९ ॥

* सत्रहवें अध्यायके सोलहवें श्लोकमें ‘मौन’ शब्द मानसिक तपन दर्शनात्मक आया है । इस वाक्यमें यहाँ ‘मौन’ शब्दका अर्थ ‘भगवत्त्वका मनन करना’ लेना चाहिये ।

† भगवान्ने श्रीमें श्लोकसे उतालीसवें श्लोकतक अपनी कुल वयामी विभूतिशक्ति वणन किया है, जैसे—श्रीसत्र श्लोकमें चार, श्लोकमें चार, बादसवें श्लोकमें चार, तेदसवें श्लोकमें चार, चौबीसवें श्लोकमें तीन, पचीसवें श्लोकमें चार, अठवीसवें श्लोकमें चार,

अथ—

हे अर्जुन ! सम्पूर्ण प्राणियोंमें जो बीज हैं, वह बीज मैं ही हूँ, क्योंकि मेरे बिना कोई भी चर-अचर प्राणी नहीं है अर्थात् चर-अचर सब कुछ मैं ही हूँ ।

व्याख्या—

‘यच्चापि सर्वभूताना बीज तद्दहमर्जुन’—यहाँ भगवान् समस्त विभूतियोंका सार बताते हैं कि सबका बीज अर्थात् कारण मैं ही हूँ । बीज कहनेका तात्पर्य है कि इस ससारका निमित्त कारण भी मैं ही हूँ और उपादान कारण भी मैं हूँ अर्थात् ससारको बनानेवाला भी मैं हूँ और ससाररूपसे बननेवाला भी मैं हूँ ।

भगवान्ने सातवें अध्यायके ‘दसवें श्लोकमें अपने को ‘सनातन बीज’ नवें अध्यायके अठारहवें श्लोकमें ‘अव्यय बीज’ और यहाँ केवल ‘बीज’ बताया है । इसका तात्पर्य है कि मैं ज्यो-का-यो रहता हुआ ही ससाररूपसे प्रकट हो जाता हूँ और ससाररूपसे प्रकट होनेपर भी मैं उसमें ज्यो-का-यो व्यापक रहता हूँ ।

‘न तदस्ति विना यत्स्यामया भूत चराचरम्’—ससारमें जड़-चेतन, स्थान-जड़म, चर-अचर आदि जो कुछ भी देखनेमें आता है, वह सब मेरे बिना नहीं हो सकता । सब मेरेसे ही होते हैं अर्थात्

सत्तादसवें श्लोकमें तीन, अष्टाईसवें श्लोकमें चार, उतीसवें श्लोकमें चार, तीसवें श्लोकमें चार, इकतीसवें श्लोकमें चार, पत्तीसवें श्लोकमें पाँच, तैंतीसवें श्लोकमें चार, चातीसवें श्लोकमें नौ, पैंतीसवें श्लोकमें चार, छत्तीसवें श्लोकमें पाँच, सैंतीसवें श्लोकमें चार, अड़तीसवें श्लोकमें चार, और उतागीसवें श्लोकमें एक विभूतिका वर्णन किया है ।

सब कुछ मैं-ही-मैं हूँ । इस नास्तिक मूल तत्त्वको जानकर साधक ईन्द्रियों, मन, बुद्धि जहाँ-कहाँ जायँ अथवा मन-बुद्धिमें संसारकी कौन-कौन बात याद आये, उन सबको भगवान्‌का ही स्वरूप मान । ऐसी माननेसे साधकको भगवान्‌का ही चिन्तन होगा, दूसरेका नहीं क्योंकि तत्त्वसे भगवान्‌के सिवाय दूसरा कोई है ही नहीं।

यहाँ भगवान्‌ने कहा है कि मेरे सिवाय चम-अचर कुछ नहीं है अर्थात् सब कुछ मैं ही हूँ और अठारहवें अध्यायके चालीमं श्लोकमें कहा है कि सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंके सिवाय कुछ नहीं है अर्थात् सब गुणोंका ही कार्य है । इस भेदका तात्पर्य है कि यहाँ भक्तियोगका प्रकरण है । इस प्रकरणमें अर्जुनने प्रश्न किया है कि मैं आपका कहाँ-कहाँ चिन्तन करूँ ? इस वास्ते उत्तरमें भगवान्‌ने कहा कि तेरे मनमें जिस-जिसका चिन्तन होता है, वह सब मैं ही हूँ ।* परन्तु वहाँ (१८ । ४०) में साययोगका प्रकरण है । साययोगमें प्रकृति और पुरुष—दोनोंके विशेषकी तथा प्रकृतिसे सम्बन्ध प्रच्छेद करनेकी प्रधानता है, प्रकृतिका कार्य होनेसे मात्र सृष्टि त्रिगुणमयी है। इस नास्ते वहाँ तीनों गुणोंसे रहित कोई नहीं है—ऐसा कहा गया है ।)

* मनसा वचसा दृष्टया गृह्यतेऽन्यैरपीन्द्रियैः ।
 अहमव न मत्तोऽन्यदिति बुध्य वमज्जसा ॥
 (श्रीमद्भा० ११ । १३ । २४)
 † इदं गुणमयं चिद्धिं त्रिविधं मायया कृतम् ॥
 (श्रीमद्भा० ११ । २८ । ७)

विशेष बात

भगवान्ने 'अहमात्मा गुडाकेश' (१० । २०) से लेकर 'बीज तदहमर्जुन' (१० । ३९) तक जो बयासी विभूतियाँ कही हैं, उनका तात्पर्य छोटा-बड़ा, उत्तम-मध्यम-अगम बतानेमें नहीं है, प्रत्युत यह बतानमें है कि कोई भी वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति आदि सामने आये तो उसमें भगवान्का ही चिन्तन होना चाहिये*। कारण कि मूलमें अर्जुनका प्रश्न यही था कि आपका चिन्तन करता हुआ मैं आपको कैसे जानूँ और किन-किन भागोंमें मैं आपका चिन्तन करूँ ? (गीता १० । १७)। उस प्रश्नके उत्तरमें चिन्तन करनेके लिये ही भगवान्ने अपनी विभूतियोंका सक्षिप्त वर्णन किया है।

जैसे यहाँ गीतामें भगवान्ने अर्जुनसे अपनी विभूतियाँ कही हैं, ऐसे ही श्रीमद्भागवतमें (ग्यारहवें स्कन्धके सोलहवें अध्यायमें) भगवान्ने उद्धवजीसे अपनी विभूतियाँ कही हैं। गीतामें रही कुछ विभूतियाँ भागवतमें नहीं आयी हैं और भागवतमें कही कुछ विभूतियाँ गीतामें नहीं आयी हैं। गीता और भागवतमें कही गयी कुछ विभूतियोंमें तो समानता है, पर कुछ विभूतियोंमें दोनो जगह अलग-अलग बात आधी हैं, जैसे—गीतामें भगवान्ने पुरोहितोंमें बृहस्पतिको अपनी विभूति बताया है— 'पुरोधसा च सुर्य मा विद्धि पार्थ बृहस्पतिम्' (१० । २४) और भागवतमें भगवान्ने पुरोहितोंमें वसिष्ठजीको अपनी विभूति बताया है— 'पुरोधसा वसिष्ठोऽहम्' (११ । १६ । २०)।

४३ प्रश्न यह होता है कि गीता और भागवतकी विभूतियोंका वक्ता एक होनेपर भी दोनोमें एक समान बात क्यों नहीं मिलती ? इसका

उत्तर यह है कि वास्तवमें भगवान्‌के कहनेका तात्पर्य किमा स्तु व्यक्ति आदिकी महत्ता बतानेमें नहीं है, प्रयुक्त अपना चिन्तन करने में है। इस गीता और भागवत—दोनों ही जगह वही ईश विभूतियोंमें भगवान्‌का चिन्तन करना ही मुख्य है। इस दृष्टि जहाँ-जहाँ विशेषता दिखायी दे, वहाँ-वहाँ वस्तु, व्यक्ति आदिकी विशेषता न देखकर केवल भगवान्‌की ही विशेषता देखनी चाहिये और भगवान्‌की ही तरफ वृत्ति जानी चाहिये।

सम्बन्ध—

अब अगले श्लोकमें भगवान्‌अपनी दिव्य विभूतियोंके कथनका उपसंहार करते हैं।

श्लोक—

नान्तोऽस्ति मम दिव्याना विभूतीना परंतप ।
एष वृद्देशत प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ॥ ४० ॥

अर्थ—

हे परंतप अर्जुन ! मेरी दिव्य विभूतियोंका अंत नहीं है। मैंने तुम्हारे सामने अपनी विभूतियोंका जो विस्तार कहा है, यह तो केवल सक्षेपसे कहा है।

व्याख्या—

‘मम दिव्याना विभूतीना’—‘दिव्य’ शब्द अलोकिकता, निलक्षणताका बोधक है। साधकका मन जहाँ चला जाय, वही

* अनुनने पहले प्रार्थनाके रूपमें पूछा था—‘वक्तुमेहं स्वसंपेय दिव्या ह्यात्मविभूतयः’ (१०। १६), भगवान्‌ने विभूतियोंका वचन आरम्भ करते हुए कहा—‘इत ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः’ (१०। १९), और यहाँ उसका उपसंहार करते हुए भगवान्‌ कहते

भगवान्‌का चिंतन करनेसे यह दिव्यता वहीं प्रकट हो जायगी, क्योंकि भगवान्‌के समान दिव्य कोई ह ही नहीं। देवता जो दिव्य कहे जाते हैं, वे भी नित्य ही भगवान्‌के दर्शनकी इच्छा रखते हैं— 'नित्य दर्शनकाङ्क्षिण' (गीता ११।५२)। इससे यही सिद्ध होता है कि दिव्यातिदिव्य तो एक भगवान् ही हैं। इस रास्ते भगवान्‌की जितनी भी विभूतियाँ हैं, तदनुसे वे सभी दिव्य हैं। परन्तु साधकके सामने उन विभूतियोंकी दिव्यता तभी प्रकट होती है, जब उसका उद्देश्य केवल एक भगवत्प्राप्तिका ही होता है, और भगवत्तत्त्वको जाननेके लिये राग-द्वेषसे रहित होकर उन विभूतियोंमें केवल भगवान्‌का चिंतन करता है।

'नान्तोऽस्ति'—भगवान्‌की दिव्य विभूतियोंका अंत नहीं है। कारण कि भगवान् अनन्त हैं तो उनकी विभूतियाँ, गुण, लीलाएँ आदि भी अनन्त हैं—'हरि अनन्त हरि कथा अनन्ता' (मानस १।१३९।५)। इस वास्ते भगवान्‌ने विभूतियोंके उपक्रममें और उपसहारमें—दोनों ही जगह कहा है कि मेरी विभूतियोंके विस्तारका अन्त नहीं है। श्रीमद्भागवतमें भगवान्‌ने अपनी विभूतियोंके विषयमें कहा है कि 'मेरे द्वारा परमाणुओंकी सख्या सनयसे गिनी जा सकती है, पर करोड़ों ब्रह्माण्डोंको रचनेवाले मेरी विभूतियोंका अन्त नहीं पाया जा सकता।'

ह—'नान्तोऽस्ति मम दिव्याना विभूतीना परतः' (१०।४०)। इस तरह प्रार्थना (प्रश्न) में, उपक्रममें और उपसहारमें—तीनों जगह 'दिव्य' पदकी प्रकृता है।

† साख्याना परमाणूना कालेन क्रियते मया।
न तथा मे विभूतीना सूक्तोऽण्डानि षोडश ॥

(श्रीमद्भा० ११।१६।३९)

भगवान् 'अनन्त, असीम और अगाध' हैं। सख्यानो दग्नि भगवान् 'अनन्त' हैं अर्थात् उनकी गणना पारद्वैतरु नहीं हो सकती। सीमानी दृष्टिसे भगवान् 'असीम' हैं। सीमा दो तरहकी होती है—कालकृत और देशकृत। अमुक समय पेटो हुआ पर अमुक समयतक रहेगा—यह कालकृत सीमा हुई, और यहाँसे लेकर वहाँतक यह देशकृत सीमा हुई। भगवान् ऐसे सीमामें नष्ट हुए नहीं हैं। तत्काली दृष्टिसे भगवान् 'अगाध' हैं। अगाध शब्दमें 'आ' नाम 'तल' का ह, जैसे, जलमें नीचेका तल होता ह। अगाधना अर्थ हुआ 'अतलरपरी' अर्थात् जिसका, तल ह, ही नहीं, एसा अगह गहरा।

'एष तद्देशत प्रोक्तो विभूतेविस्तरो मया'—अठारहवें श्लोकमें अर्जुन कहा कि आप अपनी दिव्य विभूतियोंको विस्तारसे कहिये, तो उत्तरमें भगवान्ने कहा कि मेरी विभूतियोंके विस्तारका अन्त नहीं ह। ऐसा कहकर भी भगवान्ने अर्जुनकी जिज्ञासाका कारण कृपापूर्वक अपनी विभूतियोंका विस्तारसे वर्णन किया। परन्तु यह विस्तार केवल लौकिक दृष्टिसे ही ह। इस वास्ते भगवान् यहाँ कह रहे हैं कि मैंने यहाँ जो विभूतियोंका विस्तार किया ह, वह विस्तार केवल तेरी दृष्टिसे ही ह। मेरी दृष्टिमें तो यह विस्तार भी वास्तवमें बहुत-ही सक्षेपसे (नाममात्रमा) ह, क्योंकि मेरी विभूतियों का अन्त नहीं ह।

[इस अध्यायमें बताया हुई सम्पूर्ण विभूतियों सबके काम नहीं आतीं, प्रत्युत ऐसी अनेक दूसरी विभूतियों भी काममें आती हैं, जिनका

यहाँ वर्णन नहीं हुआ है । इस रास्ते साधकों को चाहिये कि जहाँ-जहाँ किसी विशेषताको लेकर मन चिचता हो, वहाँ-वहाँ ही उस विशेषताको भगवान् की माने और भगवान् का ही चिन्तन करे, चाहे वह विभूति वहाँ भगवान् द्वारा कही गयी हो अथवा न कही गयी हो ।]

सम्प्र-ध—

अठारहवें श्लोकमें अर्जुनने भगवान् से विभूति और योग बताने की प्रार्थना की । इसपर भगवान् ने पहले अपना विभूतियोंको बताया, और अब अगले श्लोकमें योग बताने हैं ।

श्लोक—

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।

तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोऽशसम्भवम् ॥ ४१ ॥

अर्थ—

जो-जो ऐश्वर्ययुक्त, शोभायुक्त और बलयुक्त वस्तु है, उस-उसको तुम मेरे ही तेज (योग-) के अशसे उत्पन्न हुआ समझो ।

व्याख्या—

‘यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा’—प्रसारमात्रमें जिस-किसी सजीव-निर्जाव वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति, गुण, भाव, क्रिया आदिमें जो कुछ ऐश्वर्य दीखे, शोभा या सौन्दर्य दीखे, बल-बलता दीखे तथा जो कुछ भी विशेषता, प्रिलक्षणता, योग्यता दीखे, उन सबको मेरे तेजके किसी एक अशसे उत्पन्न हुई जानो । तात्पर्य है कि उनमें वह प्रिलक्षणता मेरे योगसे, सामर्थ्यसे, प्रभापसे

ही आयी है—ऐसा तुरा समझो—‘तत्तत्रैवावगच्छ २३ मम तेजोऽशसम्भवम् ।’ भगवान्‌के बिना कहीं भी और कुछ म प्रिलक्षणता नहीं है ।

मनुष्यको जिस जिसमें विशेषता मात्रम दे, उस-उसमें भगवान्‌की ही विशेषता मानते हुए भगवान्‌का ही चिन्तन होना चाहिये । अगर भगवान्‌को छोड़कर दूसरे वस्तु, व्यक्ति आदिनी विशेषता दीखती है, तो यह पतनका कारण है । जैसे पतिव्रता ली अपने मनमें यदि पतिके सिवाय दूसरे किसी पुरुषकी विशेषता रखती है तो उसका पतिव्रत्य भग हो जाता है, ऐसे ही भगवान्‌के सिवा दूसरी किसी वस्तुकी विशेषताको लेकर मन खिचता है, तो व्यभिचार-दोष, आ जाता है अर्थात् भगवान्‌के अनन्यभावका क्रम भग हो जाता है ।

ससारमें छोटी-से-छोटी और बड़ी-से-बड़ी वस्तु, व्यक्ति, क्रिया आदिमें जो भी महत्ता सुन्दरता, सुखरूपता दीखती है और जो कुछ लाभरूप, हितरूप दीयता है, वह वास्तवमें सासारिक वस्तुका है ही नहीं । अगर उस वस्तुका होना तो वह सत्र समय रहता और सत्रमें दीखता, पर वह न तो सत्र समय रहता है और न सत्रमें दीखता है । इससे सिद्ध होता है कि वह उस वस्तुका नहीं है । तो फिर किमका है ? उस वस्तुका जो आगर है, उस परमात्माका है । उस परमात्माकी शक्त ही उस वस्तुमें सुन्दरता, सुखरूपता आदि रूपसे दीखती है । परन्तु जब मनुष्यकी वृत्ति परमात्माको महिमाको तत्क न जानकर उस वस्तुको तत्क हो जानो है, नत्र वह मनमें कैस जाता है ।

ससारमें फँसनेपर उसको न तो कुछ मिलता है और न उसकी तृप्ति ही होती है । इसमें सुख नहीं है, इससे तृप्ति नहीं होती— इतना अनुभव होनेपर भी मनुष्यका वस्तु आदिमें सुखरूपताका वहम मिटता नहीं । मनुष्यको साधवानीके साथ प्रिचारपूर्वक देखना चाहिये कि प्रनिक्षण मिटनेवाली वस्तुमें जो सुख दीखता है, वह उसका कैसे हो सक्ता है । वह वस्तु प्रनिक्षण नष्ट हो रही है तो महत्ता, सुन्दरता उस वस्तुकी कैसे हो सकती है ।

जैसे पिजलीके सम्बन्धसे रेडियो बोलता है तो मनुष्य राजी होता है कि देखो, इस यन्त्रसे कौसी आवाज आ रही है । उम रेडियोमें जो कुछ शक्ति है, वह सब पिजलीकी ही है । पिजलीसे सम्बन्ध न होनेपर क्वथ यन्त्रसे आवाज नहीं निकाली जा सकती । अनजान व्यक्ति तो उस शक्तिको यन्त्रकी ही मान लेता है, पर जानकार व्यक्ति उस शक्तिको पिजलीकी ही मानता है । ऐसे ही किसी वस्तु, व्यक्ति, पदार्थ, क्रिया आदिमें जो कुछ विशेषता दीखती है, उसको अनजान मनुष्य तो उस वस्तु, व्यक्ति आदिकी ही मान लेता है, पर जानकार मनुष्य उस विशेषताको भगवान्की ही मानता है ।

इसी अध्यायक आठवें श्लोकमें भगवान्ने कहा है कि सब मेरेसे ही पैदा होते हैं और सबमें मेरी ही शक्ति है । इसमें भगवान्का तात्पर्य यही है कि तुम्हें जहाँ-वहाँ और जिस-किसीमें विशेषता, महत्ता, सुन्दरता, बल्यत्ता आदि दीखे वह सब मेरी ही है, उनकी नहीं । एक वेश्या बड़े सुन्दर स्वरोमें गाना गा रही थी, तो उसको

सुनकर एक सन्त मस्त हो गये कि देखो ! ठाकुरजीने क्या कर दिया है ! किन्तनी सुन्दर आवाज दी है ! नो सन्तकी दृष्टि बेदर नहीं गयी, प्रत्युत भगवान्पर गयी कि इसका कण्ठमें जो आकर्षण है मिठास है, वह भगवान्की है । ऐसे ही कोई फूल दीजे तो रानी हो जाय कि वाह-वाह, भगवान्ने इसमें कमी सुन्दरता मरी है ! कार किन्तीको बढ़िया पढ़ा रहा है, तो बढ़िया पढ़ानेकी शक्ति भगवान्की है, पढ़ानेवालेकी नहीं । देवताओको बृहस्पति प्रिय लगते हैं, रु वशियोंको वसिष्ठजी प्रिय लगते हैं, किन्तीको सिंहमें विशेषता दीखती है, किसीको रुपये बढ़त प्यारे लगते हैं, तो उनमें जिस शक्ति, महता विशेषता आदिको लेकर आकर्षण, प्रियता, विचार हो रहा है, वह शक्ति, महता आदि भगवान्की ही है, उनकी अपनी नहीं । इस तरह जिस-किसीमें जहाँ-कहाँ विशेषता दीजे, वह भगवान्की ही दीखनी चाहिये । इस वास्ते भगवान्ने अनेक तरहकी विभूतियाँ बतायी हैं । इसका तात्पर्य है कि उन विभूतियोंमें श्रद्धा, रचिक भेदसे आकर्षण हरेकका अठा-अठा होगा, एक मनान समझ विभूतियाँ अती नहीं लगी, पर उन समझ शक्ति भगवान्की है ।

यद्यपि जिस किन्तीमें जो भी विशेषता है, वह परमात्माकी है, तथापि जिनसे हमें लाभ हुआ है-अथवा हो रहा है, उनके हम जरूर कृतज्ञ बनें, उनकी सेवा करें । परन्तु उनकी व्यक्तिगत विशेषता मानकर नहीं फँस न जायें—यह सावधानी रखें ।

विशेष बात

भगवान्ने तीसरे श्लोकसे लेकर उन्तालीसवें श्लोकतक जितनी विभूतियों कही हैं, उनमें प्रायः अस्मि' (मैं हूँ) पदका प्रयोग किया है । मिला तीन जगह—चौथीसवें और सत्ताईसवें श्लोकमें 'विद्धि, तथा यद्वा इमन्तालोमसे श्लोकमें 'अगच्छ' पदका प्रयोग करके 'जानने' की बात कही है ।

'अस्मि' (मैं हूँ) पदका प्रयोग करनेका तात्पर्य विभूतियोंके मूल तत्त्वका लक्ष्य करानेमें है कि इन सब विभूतियोंके मूलमें मैं ही हूँ । कारण कि सत्रहवें श्लोकमें अर्जुनने पूछा था कि मैं आपको कैसे जानूँ, तो भगवान्ने 'अस्मि' का प्रयोग करके सब विभूतियोंमें अपनेको जाननेकी बात कही ।

दो जगह 'विद्धि' पदका प्रयोग करनेका तात्पर्य मनुष्यको सायवान, सायचेत करानेमें है । मनुष्य ढोके द्वारा सायचेत होता है—ज्ञानके द्वारा और शान्तके द्वारा । ज्ञान गुरुके द्वारा प्राप्त होता है और शासन स्वयं राजा करत' है । अतः चौथीसवें श्लोकमें जहाँ गुरु दृष्टस्पतिको वर्णन आया है, वहाँ 'विद्धि' कहनेका तात्पर्य है कि तुमलोग गुरुके द्वारा मेरी विभूतियोंके तत्त्वको ठीक तरहसे समझो । विभूतियोंके तत्त्वको समझनेका फल है—मेरेमें दृढ़ भक्ति होना (गीता १०।७) । सत्ताईसवें श्लोकमें जहाँ राजाका वर्णन आया है, वहाँ 'विद्धि' कहनेका तात्पर्य है कि तुमलोग राजाके शासनद्वारा उन्मार्गसे बचकर सन्मार्गमें लाना अर्थात् अपना जीवन शुद्ध बनाना समझो । गुरु प्रेमसे समझाता है और राजा बलसे, भयसे

समझाता है। गुरुके समझानेमें उद्धारकी बात मुग्य रहती है और राजाके समझानेमें लौकिक मर्यादाका पालन करनेकी मुक्त्यावधि है।

सत्ताईसवें श्लोकमें जो 'उच्चैः श्रवा' और 'एरात्त' का वर्णन आया है, वे दोनो राजाके वैभवके उपलक्षण हैं। कारण कि घोड़े, हाथी आदि राजाके ऐश्वर्य हैं और ऐश्वर्यवान् राजा ही शासन करता है। इस वारते इस श्लोकमें 'निद्वि' पदका प्रयोग खास करके उक्त लिये ही किया हुआ मालूम होता है।

यहाँ इकतालीसवें श्लोकमें जो 'अवगच्छ' पद आया है, उसका अर्थ है—वास्तविकतासे समझना कि जो कुछ भी विशेषता दी हुई है, वह वस्तुतः भगवान्की ही है।

इस प्रकार दो बार 'निद्वि' और एक बार 'अवगच्छ' पद देने का तात्पर्य यह है कि गुरु और राजाके द्वारा समझानेपर भी जबकि मनुष्य स्वयं उनकी बातको वास्तविकतासे नहीं समझेगा, उनकी बातको नहीं मानेगा, तबतक गुरुका ज्ञान और राजाका शासन उसके काम नहीं आयेगा। अन्तमें तो स्वयंको ही मानना पड़ेगा और तब ही इसका काम आयेगा।

सम्यन्ध—

यहाँतक अर्जुनके प्रश्नोंका उत्तर देकर अब भगवान् अपनी तरफसे सास बात बनाते हैं।

श्लोक—

अथवा यद्गुणैतेन किं प्रातेन तवार्जुन ।
विष्टभ्यादमिदं कृत्स्नमेकाशेन स्थितो जगत् ॥ ४२ ॥

अर्थ—

अथवा हे अर्जुन ! तेरेवो इस प्रकार बहुत-सी बातें जाननेकी
आवश्यकता है । मैं अपने किमी एक अंशमें सम्पूर्ण जगत्-
को व्याप्त करके स्थित हूँ ।

व्याख्या—

‘अथवा’ यह अव्यय-पद देकर भगवान् अर्जुनसे मानो यह
कह रहे हैं कि तुमने जो प्रश्न किया था, उसके अनुसार मेने उत्तर
दिया ही है, अब मैं अपनी तरफसे तेरे लिये एक विशेष महत्त्वकी
सारी बात बतता हूँ ।

‘बहुनैतेन किं क्षातेन तवार्जुन’—भैया अर्जुन ! तेरेको इस
प्रकार बहुत जाननेकी क्या जरूरत है ? ऐसा कहनेका तात्पर्य है कि
मैं घोड़ोंकी लगाम और चाबुक पकड़े तेरे सामने बैठा हूँ । दीगनेमें
तो मैं छोटा-सा दीरता हूँ, पर मेरे इस शरीरके किसी एक अंशमें
अनांत कोटि ब्रह्माण्ड सर्ग और प्रलय—दोनों अस्थानोंमें मेरेमें स्थित
हैं । उन सबको लेकर मैं तेरे सामने बैठा हूँ और तेरी आज्ञाका
पालन करता हूँ ! इस रास्ते जब मैं स्वयं तेरे सामने हूँ, तो तेरे
लिये बहुत-सी बातें जाननेकी क्या जरूरत है ।

‘विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमंकाशेन स्थितो जगत्—मैं इस सम्पूर्ण

गी० वि० वि० ६० ८—

जगत्को एक अशसे व्याप्त करके स्थित हैं—यह कहनेका तात्पर्य है कि भगवान्के किसी भी अंशमें अनन्त सृष्टियाँ विद्यमान हैं—ऐसे ही प्रति लगे कोटि कोटि ब्रह्मण्ड (मानस '१'। २०१)। पण्डितों ने उन सृष्टियोंसे भगवान्का कोई अंश भाग नहीं रूपा है अर्थात् भगवान्के किसी अंशमें उन सब सृष्टियोंके रहनेपर भी वहाँ खाली जगह पड़ी है। जैसे, प्रकृतिका बहुत क्षुद्र अंश हमारी बुद्धि है। बुद्धिमें कई भाषाओंका, कई लिपियोंका, कई कलाओंका ज्ञान होनेका भी हम ऐसा नहीं कह सकते कि हमारी बुद्धि अनेक भाषाओं आदिके ज्ञानसे भर गयी है, अब अब दूसरी भाषा, लिपि आदि जाननेके लिये जगह नहीं रही है। तात्पर्य है कि बुद्धिमें अनेक भाषाओं आदिका ज्ञान होनेपर भी बुद्धिमें जगह खाली ही रहती है और कितनी ही भाषाओं आदि सीखनेपर भी बुद्धि भर नहीं सकती। इस प्रकार जब प्रकृतिको छोटा अंश बुद्धि भी अनेक भाषाओं आदिके ज्ञानसे नहीं भरती, तब फिर प्रकृतिसे अतीत, अनन्त, असीम ओर अगाध भगवान्का कोई अंश अनन्त सृष्टियोंसे कैसे भर सकता है ? यह तो बुद्धिभी अपेक्षा भी विशेषरूपसे खाली रहती है।

ॐ तत्सदिति धीमहि इन्द्राय दीता सुपतिषु ब्रह्मविद्याया
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विभूतियोगो

इस प्रकार ॐ, तत्, सत्,—इन भगवन्नामोंके उच्चारणपूर्वक भविष्य और योगशास्त्रमय श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्रूप श्रीकृष्णार्जुनसमादमें 'विभूतियोग' नामक दसमें अध्याय पूर्ण हुआ ॥ १० ॥

जहाँ-जहाँ जो कुछ भी विशेषता दीखती है, यह सब गीताकी ही विभूति है—ऐसा माननेसे भगवान्के साथ योग-सम्बन्ध का अनुभव हो जाता है। इस गीते दसमें अध्यायका नाम 'विभूतियोग' है।

दसमें अध्यायके पद, अक्षर एवं उपाच

(१) इस अध्यायमें 'अथ दशमोऽध्याय' के तीन, उपाचके छ, श्लोकोंके पाँच सौ छप्पन और पुष्पिकाके तेरह पद हैं। इस तरह सम्पूर्ण पदोंका योग पाँच सौ अठहत्तर है।

(२) 'अथ दशमोऽध्याय' में सात, उपाचमें बीस, श्लोकोंमें एक हजार तीन सौ चौगलीस और पुष्पिकामें छियालीस अक्षर हैं। इस तरह सम्पूर्ण अक्षरोंका योग एक हजार चार सौ सत्रह है। इस अध्यायके सभी श्लोकोंकी अक्षरोंके हैं।

(३) इस अध्यायमें तीन उपाच हैं—दो 'श्रीभगवानुवाच' और एक 'अर्जुन उवाच'।

दसवें अध्यायमें प्रयुक्त छन्द

इस अध्यायके बयालीस श्लोकोंमेंसे—दूसरे और पचीसवें श्लोकके प्रथम चरणमें 'नगण' प्रयुक्त होनेसे 'न-विपुला', छठवें श्लोकके प्रथम चरणमें तथा पाँचवें और बत्तीसवें श्लोकके तृतीय चरणमें 'भगण' प्रयुक्त होनेसे 'भ-विपुला' आठवें श्लोकके प्रथम चरणमें और छब्बीसवें श्लोकके तृतीय चरणमें 'भगण' प्रयुक्त होनेसे 'भ विपुला', और छठे श्लोकके प्रथम चरणमें 'गण' प्रयुक्त होनेसे 'र विपुला' सज्ञानाले छन्द प्रयुक्त हुए हैं। शेष उत्तीस श्लोकोंके 'पथ्यावकत्र', छन्दके लक्षणोंसे युक्त हैं।



॥ ॐ श्रीपरमात्मने नम ॥

अथैकादशोऽध्यायः

सम्बन्ध—

दसवें अध्यायके अन्तमें भगवान्ने अर्जुनपर विशेष कृपा के कहा कि सम्पूर्ण जगत् अर्थात् अनन्त सृष्टियों मेरे किसी शमें हैं और वह मैं तेरा सारथि बना हुआ तेरे घोड़ोंकी लगाम पर चाबुक लेकर बैठा हूँ तथा तेरी आज्ञाका पालन कर रहा हूँ । व सब विभूतियों और योग-(प्रभाव-) का महान् आधार मैं तेरे मने बैठा हूँ, तब तुझे अलग-अलग विभूतियोंको जाननेकी क्या आवश्यकता है ? इस बातको सुनकर जब अर्जुनकी दृष्टि भगवान्की महती कृपापर गयी तो वे बड़े आश्चर्यमें डूब जाते हैं और कह उठते हैं --

श्लोक—

अर्जुन उवाच

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम् ।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥ १ ॥ *

* भगवान्की कृपाका अनुभव करने अर्जुन भावविभोर हो उठे और कृपाका रहस्य प्रकट करनेके लिये जब अत्यधिक प्रसन्नतासे गिरे, तो नियमना ख्याल न रहनेसे यह श्लोक तैतीस अध्यायका आया है, जबकि गीताभरमें अनुष्टुप् छन्दवाले श्लोक बत्तीस अध्यायके ही आये हैं । तात्पर्य है कि अत्यधिक प्रसन्नता होनेपर नियमका ध्यान नहीं रहता ।

अर्थ—

अर्जुन बोले—केवल मेरेपर कृपा करनेके लिये ही जाते जो परम गोपनीय अव्योमत्तर जाननेका वचन कहा, उससे मा यह मोह नष्ट हो गया है ।

व्याख्या—

‘मदनुग्रहायं’—मेरा भजन करनेवालोपर कृपा करके मैं स्वयं उनके अज्ञानजन्य अन्धकारका नाश कर देता हूँ (गीता १०।११) —यह बात भगवान् ने केवल कृपा-परमेश होकर कही । इस बातका अर्जुनपर बड़ा प्रभाव पड़ा, जिससे अर्जुन भगवान् की स्तुति करने लगे । ऐसी स्तुति उन्होंने यहाँसे पहले गीतामें कहीं नहीं की । उसीका लक्ष्य करके अर्जुन यहाँ कहते हैं कि केवल मेरेपर कृपा करनेके लिये ही आपने ऐसी बात कही है* ।

‘परम शुद्धम्’—अपनी प्रमान-प्रधान विभूतियोंको बहनेक बाद भगवान् ने दसवें अध्यायके अन्तमें अपनी ओरसे कहा कि मैं अपने किमी अंशमें सम्पूर्ण जगत्को, अनन्त-कोटि ब्रह्माण्डोंको व्याप्त करके स्थित हूँ (१० । ४२) अर्थात् भगवान् ने खुद

* ऐसे तो पहले अध्यायसे लेकर यहाँतक भगवान् ने जो कुछ कहा है, वह सब कृपा परमेश होकर ही कहा है । वास्तवमें भगवान् की सम्पूर्ण क्रियाओंमें कृपा भरी रहती है, पर मनुष्य उसे पहचानता नहीं । भगवान् की कृपाको पहचानोपर भगवत्त्वरा अनुभव बहुत सुगमतासे और दीर्घतासे ही जाता है । अर्जुनका लक्ष्य भी उस भगवत्कृपाकी ओर जाता है तो वह विभोर होकर पट उटते हैं कि आपकी कृपासे मेरा मोह नष्ट हो गया ।

अपना परिचय दिया कि मैं कैसा हूँ । इसी बातको अर्जुन परम गोपनीय मानते हैं ।

‘अध्यात्मसञ्ज्ञितम्—दसवें अध्यायके सातवें श्लोकमें भगवान् ने कहा था कि जो मेरी विभूति और योगको तत्त्वसे जानता है— अर्थात् सम्पूर्ण विभूतियोंके मूलमें भगवान् ही हैं और सम्पूर्ण विभूतियाँ भगवान् की सामर्थ्यसे ही प्रकट होती हैं तथा अन्तमें भगवान् में ही लीन हो जाती हैं—ऐसा तत्त्वसे जानता है, वह अविचल भक्तियोगसे युक्त हो जाता है । इसी बातको अर्जुन अध्यात्मसञ्ज्ञित मान रहे हैं* ।

‘यत्त्वयोक्तं चचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम’—सम्पूर्ण जगत् भगवान् के किसी एक अंशमें है—इस बातपर पहले अर्जुनकी दृष्टि नहीं थी और वे स्वयं इस बातको जानते भी नहीं थे, यही उनका मोह था । परन्तु जब भगवान् ने यह कहा कि सम्पूर्ण जगत्को अपने एक अंशमें व्याप्त करके मैं तेरे सामने बैठा हूँ, तो अर्जुनकी इस तरफ दृष्टि गयी कि भगवान् कितने प्रिय हैं, जिनके किसी एक अंशमें अनन्न सृष्टियाँ उत्पन्न होती हैं, उसमें स्थित रहती हैं और उसीमें लीन हो जाती हैं, और वे वैसे-के-वैसे रहते हैं । इस मोहके नष्ट होते ही अर्जुनको यह ख्याल आया कि पहले जो मैं इस बातको नहीं जानता था, वह मेरा मोह ही था† । इस वास्ते

* भगवान् ने अभीतक भक्तिकी जितनी बातें कही हैं, वे सब की-सब परम गोपनीय अध्यात्म उपदेश हैं ।

† मोहके रहते हुए मोहका ज्ञान नहीं होता, प्रत्युत मोहके चले जानेपर ही मोहका ज्ञान होता है, और ज्ञान होनेपर मोह रहता ही नहीं ।

अर्थ—

अर्जुन बोले—कैवल मेरेपर कृपा करनेके लिये ही अस्त जो परम गोपनीय अध्यात्मतत्त्व जाननेका वचन कहा, उसमें मेरा यह मोह नष्ट हो गया है ।

व्याख्या—

‘मदनुग्रहाय’—मेरा भजन करनेवालेपर कृपा करने में स्वयं उनके अज्ञानजन्य अन्वकारका नाश कर देता हूँ (गीता १०।११) —यह बात भगवान् ने कैवल कृपा-परमेश होकर कही । इस बातका अर्जुनपर बड़ा प्रभाव पडा, जिससे अर्जुन भगवान् की स्तुति करने लगे । ऐसी स्तुति उन्होंने यहाँसे पहले गीतामें कहीं नहीं की । उसीका लक्ष्य करके अर्जुन यहाँ कहते हैं कि कैवल मेरेपर कृपा करनेके लिये ही आपने ऐसी बात कही है* ।

‘परमं गुह्यम्’—अपनी प्रगान-प्रगान विभूतियोंको कहनेके बाद भगवान् ने इसमें अध्यायके अन्तमें अपनी ओरसे कहा कि मैं अपने किमी अंगमें सम्पूर्ण जगत्को, अनन्त-कोटि ब्रह्माण्डोंको व्याप्त करके स्थित हूँ (१०।४२) अर्थात् भगवान् ने खुद

* ऐसे तो पहले अध्यायसे लेकर यहाँतक भगवान् ने जो कुछ कहा है, वह सब कृपा परवर्ग होकर ही कहा है । वास्तवमें भगवान् की सम्पूर्ण त्रियाओमें कृपा भरी रहती है, पर मनुष्य उसे पहचानता नहीं । भगवान् की कृपाको पहचाननेपर भगवत्त्वका अनुभव बहुत सुगमतासे और शीघ्रतासे हो जाता है । अर्जुनका लक्ष्य भी जब भगवत्कृपाकी ओर जाता है तो वह विभोर होकर बह उठते हैं कि आपकी कृपासे मेरा मोह नष्ट हो गया ।

अपना परिचय दिया कि मैं कैसा हूँ । इसी बातको अर्जुन परम गोपनीय मानते हैं ।

‘अध्यात्मसंज्ञितम्’—दसवें अध्यायके सातवें श्लोकमें भगवान् ने कहा था कि जो मेरी विभूति और योगको तत्त्वमें जानता है— अर्थात् सम्पूर्ण विभूतियोंके मूलमें भगवान् ही हैं और सम्पूर्ण विभूतियाँ भगवान् की सामर्थ्यसे ही प्रकट होती हैं तथा अन्तमें भगवान् में ही लीन हो जाती हैं—ऐसा तत्त्वसे जानता है, वह अविचल भक्तियोगसे युक्त हो जाता है । इसी बातको अर्जुन अध्यात्मसंज्ञित मान रहे हैं* ।

‘यत्त्वयोपत वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम’—सम्पूर्ण जगत् भगवान् के किसी एक अंशमें है—इस बातपर पहले अर्जुनकी दृष्टि नहीं थी और वे स्वयं इस बातको जानते भी नहीं थे, यही उनका मोह था । परन्तु जब भगवान् ने यह कहा कि सम्पूर्ण जगत् को अपने एक अंशमें व्याप्त करने में तेरे सामने बैठा हूँ, तो अर्जुनकी इस तरफ दृष्टि गयी कि भगवान् कितने विलक्षण हैं, जिनके किसी एक अंशमें अनन्त सृष्टियाँ उत्पन्न होती हैं, उसमें स्थित रहती हैं और उसीमें लीन हो जाती हैं, और वे वैसे-के-वैसे रहते हैं । इस मोहके नष्ट होते ही अर्जुनको यह ख्याल आया कि पहले जो मैं इस बातको नहीं जानता था, वह मेरा मोह ही था । इस वास्ते

* भगवान् ने अभीतक भक्तिकी जितनी बातें कही हैं, वे सब की-सब परम गोपनीय अध्यात्म उपदेश हैं ।

† मोहके रहते हुए मोहका ज्ञान नहीं होता, प्रत्युत मोहके चले जानेपर ही मोहका ज्ञान होता है, और ज्ञान होनेपर मोह रहता ही नहीं ।

अर्जुन यहाँ अपनी दृष्टिसे कहते हैं कि भगवान् ! मरा यह सर्पथा चला गया है। परतु ऐसा कहनेपर भी भगवान् ने (अर्जुनके मोहनाशको) स्वीकार नहीं किया, क्योंकि जो उक्त श्लोकमें भगवान् ने 'अर्जुनसे' कहा है कि तेरेको व्यथा और मोह (मोह) नहीं होना चाहिये—'मा ते व्यथा मा च विमूढभाव

सम्बन्ध—

मोह कैसे नष्ट हो गया ? इसको अगले श्लोकमें विस्तार कहते हैं।

श्लोक—

'भवाप्ययौ हि भूताना श्रुतौ विस्तरशो मया।

त्वत्त कमल्पप्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ॥ २

अर्थ—

हे कमलनयन ! सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति और प्रलय विस्तारपूर्वक आपसे ही सुना है और अविनाशी माहात्म्य सुना है।

व्याख्या—

'भवाप्ययौ हि भूताना त्वत्त श्रुतौ विस्तरशो मया भगवान् ने पहले कहा था—'मैं सम्पूर्ण जगत्का प्रभव और प्रलय हूँ, मेरे सिवाय अब कोई कारण नहीं है (७ । ६-७), सात्त्विक, राजस और तामस भाव मेरेसे ही होते हैं (७ । १२), प्राणियोंके अलग-अलग अनेक तरहके भाव मेरेसे ही होते हैं (१० । ४५) सम्पूर्ण प्राणी मेरेसे ही होते हैं और मेरेसे ही स्रष्टा करते हैं (१० । ८), प्राणियोंके आदि, मध्य तथा अन्तमें भी मैं ही हूँ।

(१०।२०), और सम्पूर्ण सृष्टियोंके आदि, मध्य तथा अन्तमें मैं ही हूँ (१०।३२)। इसीको लेकर अर्जुन यहाँ कहते हैं कि मैंने आपसे प्राणियोंकी उत्पत्ति और प्रलयका वर्गन विस्तारसे सुना है। इसका तात्पर्य प्राणियोंकी उत्पत्ति और विनाश सुननेसे नहीं है, प्रत्युत इसका तात्पर्य यह सुननेमें है कि सभी प्राणी आपसे ही उत्पन्न होते हैं, आपमें ही रहते हैं और आपमें ही लीन हो जाते हैं अर्थात् सब कुछ आप ही हैं।

‘माहात्म्यमपि चाव्ययम्’—आपने दसवें अध्यायके सातवें श्लोकमें बताया कि विभूति और योगको जो तत्त्वसे जानता है, वह अविकम्प भक्तियोगसे युक्त हो जाता है। इस प्रकार आपकी विभूति और योगको तत्त्वसे जाननेका माहात्म्य भी मैंने सुना है।

माहात्म्यको ‘अव्यय’ कहनेका तात्पर्य है कि भगवान्की विभूति और योगको तत्त्वसे जाननेपर जो भगवान्में भक्ति होती है, प्रेम होता है, भगवान्से ‘अभिन्नता’ होती है, यह सब अव्यय है। कारण कि भगवान् अव्यय, नित्य हैं तो उनकी भक्ति, प्रेम भी अव्यय ही होगा।

सम्बन्ध—

अब अगले दो श्लोकोंमें अर्जुन विशाखरूपके दर्शनके लिये भगवान्से प्रार्थना करते हैं।

श्लोक—

एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मान परमेश्वर ।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥ ३ ॥

अर्थ—

हे पुरुपोत्तम ! आप अपने-आपको जैसा कहते हैं, वास्तवमें ऐसा ही है । हे परमेश्वर ! आपके ईश्वर सम्बन्धी रूपों में देखना चाहता हूँ ।

व्याख्या—

'पुरुपोत्तम'—यह सम्बोधन देनेका तात्पर्य है कि हे भगवान् मेरी दृष्टिमें इस ससारमें आपके समान कोई उत्तम, श्रेष्ठ नहीं है, अर्थात् आप ही सबसे उत्तम, श्रेष्ठ हैं । इस बातको आगे पन्द्रहवें अध्यायमें भगवान् ने भी कहा है कि मैं क्षरसे अतीव और अक्षरसे उत्तम हूँ, इस वास्ते मैं शास्त्र और वेदमें पुरुपोत्तम नामसे प्रसिद्ध हूँ* ।

'एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानम्'—हे पुरुपोत्तम ! आपन सातवें अध्यायसे दसवें अध्यायतक मेरे प्रति अपने अत्रोक्तिक प्रभावका, सामर्थ्यका जो कुछ वर्णन किया वह वास्तवमें ऐसा ही है ।

यह ससार मेरेसे ही उत्पन्न होता है, मेरेमें ही स्थित रहता है और मेरेमें ही लीन हो जाता है (७ । ६), मेरे सिवाय इसका और कोई कारण नहीं है (७ । ७), सब कुछ वासुदेव ही है (७ । ९), ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अविभूत, अविदेन और अविग्रह रूपमें मैं ही हूँ (७ । २९-३०), अनन्य भक्तिसे प्रापणीय परम-तत्त्व मैं ही हूँ (८ । २२), मेरेसे ही यह सम्पूर्ण ससार व्याप्त है

* यस्मात्क्षरमतीतोऽहमभूरादपि ।

अतोऽस्मि - लोके वेदे, च प्रथितः पुरुपोत्तम ॥ १८ ॥

र मे ससारमें और ससार मेरेमें नहीं है (९ । ४), सत् और सत्-रूपसे सब कुछ मैं ही हूँ (९ । १९), मैं ही ससारका ल कारण हूँ और मेरेमे ही सारा ससार सत्ता-स्वर्ति पाता है (१० । ८), यह सारा ससार मेरे ही किमी एक अशमें स्थित (१० । ४२) आदि-आदि अपने-आपको आपने जो कुछ हाटे, वह सत्-का-सत् यथार्थ ही है ।

‘परमेश्वर’—भगवान्‌के मुखमे अर्जुनने पहले सुना है कि ‘मै । सम्पूर्ण प्राणियोका और सम्पूर्ण लोकोका महान् ईश्वर हूँ—-भूतानामीश्वरोऽपि’ (८ । ६), ‘सर्वलोकमहेश्वरम्’ (७ । २९) त वास्ते अर्जुन यहाँ भगवान्‌के प्रिलक्षण प्रभावसे प्रभापित होकर नके लिये ‘परमेश्वर’ सम्बोधन देते हैं, जिसका ता पर्य है कि हे पान् । वास्तरमें आप ही परम ईश्वर हैं, आप ही सम्पूर्ण ऐश्वर्यके लिक हैं ।

‘द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरम्’—अर्जुन कहते हैं कि मैंने आपसे आपका माहात्म्यमहित प्रभाप सुन लिया है और इस विषयमें मेरे हृदयमें दृढ विवास भी हो गया है । ‘सम्पूर्ण ससार मेरे लीके एक अशमें है’—इसे सुनकर मेरे मनमें आपके उस रूपको खनेकी उत्कट लालसा हो रही है ।

दूसरा भाप यह है कि आप इतने प्रिलक्षण और महान् होते ए भी मेरे साथ किनता स्नेह रखने हैं, किनता आत्मीयता रखते हैं के मैं जैसा कहता हूँ, वैसा ही आप करते हैं और जो कुछ पूठता हूँ, उसका आप उत्तर देने हैं । इस कारण आपसे कहनेका, पूठनेका

किञ्चिन्मात्र भी सकोच न होनेसे, मेरे मनमें आपका वह रूप देखनेकी बहुत इच्छा हो रही है, जिसके एक अंशमें सम्पूर्ण संसार व्याप्त है ।

दसवें अध्यायके सोलहवें श्लोकमें अर्जुनने कहा था कि आप अपनी पूरी-सी-पूरी विभूतियाँ कह दीजिये, वासी मत रखिये, 'वक्तुमर्हस्यशेषेण'—तो भगवान्ने विभूतियोंका उर्णन करते हुए उपक्रममें और उपसहारमें कहा कि मेरी विभूतियोंका अंत नहीं है (१० । १२, ४०) । इस वास्ते भगवान्ने विभूतियोंका उर्णन संक्षेपसे ही किया । परन्तु यहाँ जब अर्जुन कहते हैं कि मैं आपके एक रूपको देखना चाहता हूँ—'द्रष्टुमिच्छामि ते रूपम्' तो भगवान् कहते हैं कि वृ मेरे सैकड़ों-हजारों रूपोंसे दत्त (११ । ५) । जैसे सत्सारमें कोई किसीसे लालचूर्णक ज्यादा माँगता है, तो देनेवालेमें देनेका भाग कम हो जाता है और वह कम देता है । इसके विपरीत यदि कोई सकोचपूर्वक कम माँगता है, तो देनेवाला उदारतापूर्वक ज्यादा देता है । एसे ही यहाँ अर्जुनने खुलेरूपसे कह दिया कि आप सत्र-की-सत्र विभूतियाँ कह दीजिये तो भगवान्ने कहा कि मैं अपनी विभूतियोंको संक्षेपसे कहूँगा । इस बातको लेकर अर्जुन सामान हो जाते हैं कि अब मेरे कहने में ऐसी कोई अनुचित बात न आ जाय । इस वास्ते अर्जुन यहाँ सकोचपूर्वक कहते हैं कि अगर मेरे द्वारा आपका निरादृश्य रूप देखा जा सकता है तो दिखा दीजिये । अर्जुनको इस सकोचको देखकर

भगवान् बड़ी उदारतापूर्वक कहते हैं कि तू मेरे सैकड़ो-हजारो शरीरोंको देख ले।

दूसरा भाग यह है कि अर्जुनके रयमें एक जगह बैठे हुए भगवान्ने यह कहा कि 'तू जो मेरे इस शरीरको देख रहा है, इसके किसी एक अंशमें सम्पूर्ण जगत् (जिसके अन्तर्गत अनन्त-कोटि ब्रह्माण्ड हैं) व्याप्त है ।' तात्पर्य है कि भगवान्का छोटा-सा शरीर है, और उस छोटे-से शरीरके किसी एक अंशमें सम्पूर्ण जगत् है। अतः उस एक अंशमें स्थित रूपको मे देखना चाहता हूँ—यही अर्जुनके 'रूपम्' (एक रूप) कहनेका आशय मालूम होता है।

श्लोक—

मन्यसे यदि तच्छक्य मया द्रष्टुमिति प्रभो ।

योगेश्वर ततो मे त्व दर्शयात्मानमव्ययम् ॥ ४ ॥

अर्थ—

हे प्रभो ! मेरे द्वारा आपका वह परम ऐश्वर्य रूप देखा जा सकता है—ऐसा अगर आप मानते हैं। तब हे योगेश्वर ! आप अपने उस अपिनाशी स्वरूपको मुझे दिग्वा दीजिये।

व्याख्या—

'प्रभो'—'प्रभु' नाम सर्वसमर्थका है, इस वास्ते इस सम्बोधनका भाग यह मालूम होता है कि यदि आप मेरेमें विराटरूप देखनेकी सामर्थ्य मानते हैं, तब तो ठीक है, नहीं तो आप मेरेको ऐसी सामर्थ्य दीजिये, जिससे मैं आपका वह ऐश्वर्य (ईश्वर-सम्बन्धी) रूप देख सकूँ। -

‘मन्यसे यदि तच्छक्य मया द्रष्टुमिति’—इसका तात्पर्य है कि अगर आप अपना वह रूप नहीं दिखायेंगे, तो भी मैं पशु मानूँगा कि आपका रूप तो वैसे ही है, जैसा आप कहते हैं, पर मैं उसको देखनेका अधिकारी नहीं हूँ, योग्य नहीं हूँ, पात्र नहीं हूँ। इस प्रकार अर्जुनको भगवान्‌के वचनोंमें किञ्चिन्मात्र भी सन्देह नहीं है, प्रस्थुन दृढ़ विश्वास है। इसीलिये तो वे कहते हैं कि मैं मेरेको अपना विराट्‌रूप दिखाइये।

‘योगेश्वर’—अर्जुनने दसवें अध्यायके सत्रहवें श्लोकमें भगवान्‌के लिये ‘योगिन’ सम्बोधन दिया था अर्थात् भगवान्‌को योगी बताया था, परन्तु अब अर्जुनने भगवान्‌के लिये ‘योगेश्वर’ सम्बोधन दिया। हे अर्थात् भगवान्‌को सम्पूर्ण योगोंके मादिक्रम बताया है। कारण यह है कि दसवें अध्यायके आरम्भमें अर्जुनकी भगवान्‌के प्रति जो धारणा थी, उस धारणामें अब बहुत परिवर्तन हुआ है।

‘योगेश्वर’ सम्बोधन देनेका यह भाव मादिक्रम देता है कि भक्तियोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग, ध्यानयोग, हठयोग, राजयोग, लक्ष्ययोग, मन्त्रयोग आदि जितने भी योग हो सकते हैं, उन सबके आप मादिक्रम हैं, इस रास्ते आप अपनी अत्रौकिक योगशक्तिसे यह विराट्‌रूप भी दिखा दीजिये।

‘ततो मे त्वं दर्शया मानमव्ययम्’—आपका यह स्वरूप तो अविनाशी ही है, जिससे अनन्त सृष्टियाँ उत्पन्न होती हैं, उसमें स्थिर रहती हैं और उसीमें लीन हो जाती हैं, पर आपका स्वरूप नित्य रहता है। आप अपने ऐसे अविनाशी स्वरूपका दर्शन कराइये।

सम्बन्ध—

पूर्वश्लोकमें अर्जुनकी नम्रतापूर्वक की हुई प्रार्थनाको सुनकर अथ भगवान् अगले श्लोकमें अर्जुनको विश्वरूप देखनेके लिये आज्ञा देते हैं ।

श्लोक—

श्रीभगवानुवाच

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रश ।

नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥ ५ ॥

अर्थ—

श्रीभगवान् बोले—हे पृथानन्दन ! अब मेरे अनेक तरहके अनेक वर्णों और आकृतियोंवाले सैकड़ों-हजारों दिव्यरूपोंको तू देख ।

व्याख्या—

‘पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रश — अर्जुनकी सक्रोचपूर्वक प्रार्थनाको सुनकर भगवान् अत्यधिक प्रसन्न हुए । इस वास्ते भगवान् अर्जुनके लिये ‘पार्थ’* सम्बोधनका प्रयोग करते हुए कहते हैं कि तू मेरे रूपोंको देख । रूपोंमें भी तीन चार नहीं, प्रत्युत सैकड़ों-हजारों रूपोंको देख अर्थात् अनगिनत रूपोंको देख । भगवान्ने जैसे विभूतियोंके विषयमें कहा है कि मेरी विभूतियोंका

* भगवान्को वहाँ अर्जुनके लिये कोई विशेष बात कर्नी होती है, वहाँ वे ‘पार्थ’ सम्बोधनका प्रयोग करते हैं । कारण कि भगवान्को यह सम्बोधन बहुत प्रिय है । इस वास्ते गीतामें पार्थ सम्बोधन सबसे अधिक—अड़तीस बार आया है ।

अत नहीं आ सकता, ऐसे ही यहाँ भगवान् ने अपन रूप अनन्तता बताया है।

‘नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च’—अब भगव

उन रूपोंकी विशेषताओंका वर्णन करते हैं कि उनकी तरह-तुल्य बनावट है। उनके रंग भी तरह-तरहके हैं अर्थात् कोई कि रंगका तो कोई किसी रंगका, कोई पीला तो कोई लाल आदि। उनमें भी एक-एक रूपमें कई तरहके रंग हैं। उन रूपोंकी आकृतियाँ भी तरह-तरहकी हैं अर्थात् कोई छोटा तो कोई मोटा, कोई लम्बा तो कोई चौड़ा आदि-आदि।

जैसे पृथ्वीका एक छोटा-सा कण भी पृथ्वी ही है, ऐसे ही भगवान् के अनन्त, अपार विश्वरूपका एक छोटा-सा अंश होनेके कारण यह ससार भी विश्वरूप ही है। परन्तु यहाँ हरेकके सामने दिव्य विश्वरूपसे प्रकट नहीं है, प्रत्युत ससाररूपसे ही प्रकट है। वरना कि मनुष्यकी दृष्टि भगवान् की ओर न होकर नाशवान् ससारकी ओर ही रहती है। जैसे अकार लेनेवाले भगवान् सत्रके सामने भगवरूपसे प्रकट नहीं रहते (गीता ७।२५); प्रत्युत मनुष्यरूपसे ही प्रकट रहते हैं, ऐसे ही विश्वरूप भगवान् सत्रके सामने ससार रूपसे ही प्रकट रहते हैं अर्थात् हरेकको यह विश्वरूप ससाररूपसे ही दीयता है। परन्तु यहाँ भगवान् अपने दिव्य अविनाशी विश्वरूपसे साक्षात् प्रकट होकर अर्जुनको कह रहे हैं कि तू मेरे दिव्य रूपोंको देख।

सम्यन्व—

— पूर्वश्लोकमें भगवान्ने अपने विश्वरूपमें तरह-तरहके वर्णों
 र आकृतियोंको देखनेकी बात कही। अब अगले श्लोकमें
 ताओंको देखनेकी बात कहते ह।

श्लोक—

पश्यादित्यान्वसूरुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा ।
 बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ॥ ॥

अर्थ—

हे भरतशोद्धन अर्जुन ! तू वारह आदित्योंको, आठ असुरोंको,
 ारह रुद्रोंको और दो अश्विनीकुमारोंको तथा उन्चास मरुद्रोंको
 ष। जिनको तूने पहले कभी देखा नहीं, ऐसे बहुत-से आश्चर्य-
 नरूपोंको भी तू देख।

व्याख्या—

‘पश्यादित्यान्वसूरुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा’—आदित्यके पुत्र
 ता, मित्र, अर्यमा, शक्र, वरुण, अश, भग, प्रियस्वान्, पूषा, सपिता,
 ष्टा और त्रिष्णु—ये वारह ‘आदित्य’ हैं (महा० आदि० ६५।
 ५-१६) ।

‘अथ, धुम, सोम, अह, अनिठ, अनठ, प्रत्युष और प्रभास—
 आठ असुर’ हैं (महा० आदि० ६६। १८) ।

‘हर, बहुरूप, त्र्यम्बक, अपराजित, वृषाकपि, शम्भु, कपर्दी,
 वन, मृगव्याध, शर्प और कपाली—ये ग्यारह ‘रुद्र’ हैं (हरिपश०
 । ३। ५१-५२) ।

‘अश्विनीकुमार’ दो हैं। ये दोनों भाई देवताओंके वैद्य हैं।

सत्त्वज्योति, आदित्य, सयज्योति, निर्गज्योति, सज्योतिष्मान्, हरित, ऋतजित्, सत्यजित्, सुपेण, सेनजित्, सचमित्र, अभिमित्र, हरिमित्र, कृत, सय, ध्रुव, धर्ता, विवर्ता, विवारय, धुनि, उग्र, भीम, अभियु, साक्षिप, ईदृक्, अन्यादृक्, यादृक्, कृत्, ऋक्, समिति, सरम्भ, ईदृक्ष, पुरूप, अन्यादृक्ष, चेतस, सन्ति, समिदृक्ष, प्रतिदृक्ष, मरुति, सरत, देव, दिश, यजु, अनुदृक्, मानुष और पिश—ये उन्चास मरुत हैं । (वायुपुराण ६७ । १२३-१३०) ।

—इन सबको तू मेरे पिराट् रूपमें देख ।

वारह आदित्य, आठ वसु, ग्यारह रुद्र और दो अश्विनीकुमार—ये तैंतीस प्रकारके (तैंतीस कोटि) देवता सम्पूर्ण देवताओंमें मुख्य हैं । देवताओंमें मरुद्गणोंका नाम भी आता है, पर वे उन्चास मरुद्गण इन तैंतीस प्रकारके देवताओंसे अलग माने जाते हैं, क्योंकि वे सर्व दैत्योंसे देवता बने हैं । इस रास्ते भगवान् ने भी 'क्षया' पद देव मरुद्गणोंको अलग बताया है ।

'बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याध्वर्याणि भारत'—तुमने इन रूपोंके पहले कभी आँवोंसे नहीं देखा है, कानोंसे नहीं सुना है, मन चिन्तन नहीं किया है, बुद्धिसे कल्पना नहीं की है । इन रूपोंकी तरफ तुम्हारी कभी दृष्टि ही नहीं गयी है । ऐसे बहुत-से अदृश्य रूपोंको तू प्रत्यक्ष देख ले ।

इन रूपोंको देखते ही आश्चर्य होता है कि अहो ! ऐसे भगवान् के रूप हैं ! ऐसे अद्भुत रूपोंको तू देख ।

सम्बन्ध—

भगवान्-द्वारा विश्वरूप देखनेकी आज्ञा देनेपर अर्जुनकी यह जिज्ञासा हो सकती है कि मैं इस रूपको कहाँ देखूँ—। इस वास्ते भगवान् कहते हैं ।

श्लोक—

इहैकस्थ जगत्कृत्स्न पश्याद्य सचराचरम् ।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्दृष्टुमिच्छसि ॥ ७ ॥

अर्थ—

हे नीदको जीतनेवाले अर्जुन ! मेरे इस शरीरके एक देशमें चराचर-सहित सम्पूर्ण जगत्को अभी देख ले । इसके सिवाय तू और भी जो कुछ देखना चाहता है, वह भी देख ले ।-

व्याख्या—

‘गुडाकेश’—निद्रापर अत्रिकार प्राप्त करनेसे अर्जुनको ‘गुडाकेश’ कहते हैं । यहाँ यह सम्बोधन देनेका तात्पर्य है कि तू निरालस्य होकर सावधानीसे सम्पूर्ण जगत्को देख ।

‘इहैकस्थ जगत्कृत्स्न पश्याद्य सचराचरम् मम देहे’—दसवें अध्यायके अन्तमें भगवान्ने कहा था कि मैं सम्पूर्ण जगत्को एक अशसे व्याप्त करके स्थित हूँ । इसीपर अर्जुनके मनमें विश्वरूप देखनेकी इच्छा हुई । इस वास्ते भगवान् कहते हैं कि हाथमें घोड़ोंकी लगाम और चाबुक लेकर तेरे सामने बैठे हुए मेरे इस शरीरके एक देश- (अश-) में चर-अचरसहित सम्पूर्ण जगत्को देख । मनुष्य, देवता, यक्ष, राक्षस, भूत, पशु, पक्षी आदि चलने-फिरनेवाले जङ्गम, और वृक्ष, लता, घास, पौधा आदि स्थानर तथा

पृथ्वी, पहाड़, रेत आदि जड़-सहित सम्पूर्ण जगत्को 'अथा—
अभी, इसी क्षण देख ले, इसमें देरीका काम नहीं है।

'यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि — तू और भी जो कुछ देखना चाहता
ह, वह भी देख ले। अर्जुन और क्या देखना चाहते थे ? अर्जुनके
मनमें यह सन्देह था कि युद्धमें जीत हमारी होगी या कार्खोकी ?
इस वृत्ते भगवान् कहते हैं कि वह भी तू मेरे इस शरीरके एक
अंशमें देख ले।

विशेष बात

जैसे दसवें अध्यायमें भगवान्से 'जो मेरी विभूति और योगको
तत्त्वसे जानता है; उसका मेरेमें दृढ़ भक्तियोग हो जाता है' इस
बातको सुनकर ही अर्जुनने 'भगवान्की स्तुति प्रार्थना करने
विभूतियाँ पूछी थीं, ऐसे ही भगवान्से 'मेरे एक अंशमें सारा
संसार स्थित है' इस बातको सुनकर अर्जुनने विश्वरूप दिखानेके
लिये प्रार्थना की है। अगर भगवान् 'अथवा' कहकर अपनी ही
तरफसे 'मेरे किसी एक अंशमें सम्पूर्ण जगत् स्थित है' यह बात
न कहते तो अर्जुन 'विश्वरूप देखनेकी इच्छा ही नहीं करते।
जब इच्छा ही नहीं करते तो फिर 'विश्वरूप दिखानेके लिये प्रार्थना
कैसे करते ? और जब प्रार्थना ही नहीं करते तो फिर भगवान् अपना
विश्वरूप कैसे दिखाते ? इससे निश्चय होता है कि भगवान् वृषापूर्वक
अपनी ओरमें ही अर्जुनको अपना विश्वरूप दिखाना चाहते हैं।

• न चाद्विद्म कारुणो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ।

(गीता २।६)

ऐसी ही बात गीताके आरम्भमें भी आयी है । जब अर्जुनने भगवान्से दोनो सेनाओके बीचमें रथ खड़ा करनेके लिये कहा, तो भगवान्ने रथको पितामह भीष्म और द्रोणाचार्यके सामने खड़ा किया और, अर्जुनसे कहा—तुम इन कुहवशियोको देखो—‘कुरुन् पश्य’ (१ । २५) । इसका यही आशय मालूम देता है कि भगवान् कृपापूर्वक गीता प्रकट करना चाहते हैं । कारण कि यदि भगवान् ऐसा न कहते तो अर्जुनको शोक नहीं होता और गीताका उपदेश आरम्भ नहीं होता । तात्पर्य है कि भगवान्ने अपनी तरफसे कृपा करके ही गीताको प्रकट किया है ।

सम्भव—

भगवान्ने तीन श्लोकोंमें चार बार ‘पश्य’ पदसे अपना रूप देखनेके लिये आज्ञा दी । इसके अनुसार ही अर्जुन आँसे फाड़-फाड़कर देखते हैं और देखना चाहते भी हैं, परन्तु अर्जुनको कुछ भी नहीं दीखता । इस वास्ते अब भगवान् अगले श्लोकमें अर्जुनको न दीखनेका कारण बताते हुए उनको दिव्य चक्षु देकर विश्वरूप देखनेकी आज्ञा देते हैं ।

श्लोक—

न । तु । मा । शक्यसे । द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ।

दिव्यं । देदामि ते चक्षु पश्य मे योगमैश्वरम् ॥ ८ ॥

अर्थ—

‘तू अपनी इस आँखसे अर्थात् चर्मचक्षुसे मेरेको नहीं देख सकता । इस वास्ते मैं तेरेको दिव्य चक्षु देता हूँ, जिससे तू मेरो ईश्वर-सम्बन्धी सामर्थ्यको देख ।

व्याख्या—

‘न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा’—तुम्हारे जो चर्मचक्षु हैं, इनकी शक्ति बहुत अल्प और सीमित है । प्राकृत होनेके कारण ये चर्मचक्षु केवल प्रकृतिके कुछ कार्योंको ही देख सकते हैं अर्थात् प्राकृत मनुष्य, पशु, पक्षी आदिके रूपोंको, उनके भेदोंको तथा धूप, छाया आदिके रूपोंको ही देख सकते हैं । परन्तु वे मन-बुद्धि-इन्द्रियोंसे अतीत मेरे रूपको नहीं देख सकते ।

‘दिव्यं ददामि ते चक्षु पश्य मे योगमैश्वरम्’—मैं तेरेको अतीन्द्रिय, अलौकिक रूपको देखनेकी सामर्थ्यवाले दिव्यचक्षु देता हूँ अर्थात् तेरे इन चर्मचक्षुओंमें ही दिव्य शक्ति प्रदान करता हूँ, जिससे तू अतीन्द्रिय, अलौकिक पदार्थ भी देख सके और साथ-साथ उनकी दिव्यताको भी देख सके । यद्यपि दिव्यता देपना नेत्रका विषय नहीं है, प्रयुत बुद्धिका विषय है, तथापि भगवान् कहते हैं मेरे दिये हुए दिव्यचक्षुओंसे तू दिव्यताको अर्थात् मेरे ईश्वर-सम्बन्धी अलौकिक प्रभापको भी देख सकेगा । तात्पर्य है मेरा विराटरूप देखनेके लिये दिव्यचक्षुओंकी आवश्यकता है ।

‘मेरा ईश्वर-सम्बन्धी रूप देख’—यह कहनेका तात्पर्य है कि जैसे अवताररूपमें प्रकट होकर लीला करनेवाले भगवान्को मनुष्यरूपसे हरेक देख सकता है, पर उनको साक्षात् ईश्वररूपसे देखनेवाले बहुत कम होते हैं, ऐसे ही चर्मचक्षुओंसे ससारको (जो दिव्य विराटरूपका ही एक अङ्ग है) ससाररूपसे तो हरेक देखना ही है, पर उसे ईश्वररूपसे देखनेवाले बहुत ही कम होते हैं । इस

वास्ते भगवान् यहाँ दिव्यचक्षु देकर अर्जुनको ईश्वर-सम्बन्धी योग-रूप देखनेके लिये आज्ञा देते हैं ।

‘पश्य’ क्रियाके दो अर्थ होते हैं—बुद्धि- (विवेक-) से देखना और नेत्रोंसे देखना । नवें अध्यायके पाँचवें श्लोकमें भगवान्ने ‘पश्य मे योगमैश्वरम्’ कहकर बुद्धिके द्वारा देखने (जानने-)की बात कही । अत्र यहाँ ‘पश्य मे योगमैश्वरम्’ कहकर नेत्रोंके द्वारा देखनेकी बात कहते हैं ।

विशेष बात

जैसे, किसी जगह ‘श्रीमद्भगवद्गीता’—ऐसा लिखा हुआ है । जिनको वर्णमालाका विल्कुल ज्ञान नहीं है, उनको तो इसमें केवल काली काली लकीरें दीखती हैं और जिनको वर्णमालाका ज्ञान है, उनको इसमें अक्षर दीखते हैं । परन्तु जो पढ़ा-लिखा है और जिसको गीताका गहरा मनन है, उसको ‘श्रीमद्भगवद्गीता’—ऐसा लिखा हुआ देखते ही गीताके अध्यायोंकी, श्लोकोंकी, भागोंकी सब बातें दीखने लगी जाती हैं । ऐसे ही अर्जुनको जब भगवान्ने दिव्यचक्षु दिये, तो उनको अलौकिक विश्वरूप तथा उसकी दिव्यता भी दीखने लगी, जो कि साधारण बुद्धिका विषय नहीं है । यह सब सामर्थ्य भगवत्प्रदत्त दिव्यचक्षुकी ही थी ।

अत्र यहाँ एक शङ्का होती है कि जब अर्जुनने चौथे श्लोकमें कहा कि अगर मैं आपके विश्वरूपको देख सकता हूँ तो आप अपने विश्वरूपको दिखा दीजिये, तब उसके उत्तरमें भगवान्को यह आठवाँ श्लोक कहना चाहिये था कि तू अपने

इन चर्मचक्षुओंसे मेरे विश्वरूपको नहीं देख सकता, इस वास्ते मैं तेरेको दिव्य चक्षु देता हूँ। परन्तु भगवान्ने वहाँ ऐसा नहीं कहा, प्रत्युत दिव्यचक्षु देनेसे पहले ही 'पश्य-पश्य' कहकर बार-बार देखनेकी आज्ञा दी। जब अर्जुनको दीवा नहीं, तो उसको न देखनेका कारण बताया और फिर दिव्यचक्षु देकर उसका निराकरण किया। अतः इतनी झंझट भगवान्ने की ही क्यों ?

साधारण भगवान्की कृपाका प्रामाण्य कैसे विस्तार होता है, यह बतानेके लिये ही भगवान्ने ऐसा किया है, क्योंकि भगवान्का ऐसा ही स्वभाव है। भगवान् 'अव्ययिक' कृपालु हैं। उन कृपासागरकी कृपामा कभी अन्त नहीं आता। भक्तोंपर कृपा करनेके उनके विचित्र विचित्र ढंग हैं। जैसे, पहले तो भगवान्ने अर्जुनको उपदेश दिया। उपदेशके द्वारा अर्जुनके भीतरके भावोंका परिवर्तन कराकर उनको अपनी विभूतियोंका ज्ञान कराया। उन विभूतियोंको जाननेसे अर्जुनमें एक निष्कण्ठाता आ गयी, जिससे उन्होंने भगवान्से कहा कि आपके अमृतमय वचन सुनते हुए मेरी तृप्ति नहीं हो रही है। विभूतियोंका वर्णन करके अन्तमें भगवान्ने कहा कि ऐसे (तरह-तरहकी विभूतियोंवाले) अनन्त ब्रह्माण्ड मेरे एक अशमें पड़े हुए हैं। जिसके एक अशमें अनन्त ब्रह्माण्ड हैं, उस विराटरूपको देखनेके लिये अर्जुनकी इच्छा हुई और इसके लिये उन्होंने प्रार्थना की। इसपर भगवान्ने अपना विराटरूप दिखाया और उसको देखनेके लिये बार बार आज्ञा दी। परन्तु अर्जुनको विराटरूप दीवा

नहीं। तब। उनको भगवान् ने दिव्यचक्षु प्रदान किये। सायश यह हुआ कि विराटरूप देखनेकी जिज्ञासा भी भगवान् ने पैदा की। जिज्ञासा पैदा करके विराटरूप दिखानेकी इच्छा प्रकट करायी। इच्छा प्रकट करनेपर विराटरूप दिखाया। अर्जुनको नहीं दीखा तो दिव्यचक्षु देकर इसकी पूर्ति की। तात्पर्य यह निकला कि भगवान् के शरण होनेपर शरणागतता सत्र काम करनेकी जिम्मेवारी भगवान् अपने ऊपर ले लेते हैं।

सम्पद्य—

दिव्यचक्षु प्राप्त करके अर्जुनने भगवान् का कैसा रूप देखा, यह बात सजय धृतराष्ट्रसे अगले श्लोकमें कहने हैं।

श्लोक—

सजय उवाच

एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः ।

दर्शयामास पार्थाय परम रूपमैश्वरम् ॥ ९ ॥

अर्थ—

संजय बोले—हे राजन् ! ऐसा कहकर फिर महायोगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको परम ऐश्वर-रूप दिखाया।*

व्याख्या—

पूर्वश्लोकमें भगवान् ने जो यह कहा था कि मैं अपने चर्मचक्षुओंसे मुझे नहीं देख सकता, इस वास्ते मैं तेरेको दिव्यचक्षु

* सनपको श्री भवेदव्यासनी महाराजसे, दिव्यदृष्टि मिली हुई थी, इस वास्ते वे भी अर्जुनके साथ-ही-साथ भगवान् के विश्वरूपको दर्शन करते हैं और धृतराष्ट्रसे उसका वर्णन करते हैं।

अर्थ—

अगर आकाशमें एक साथ हजारों सूर्य उदय हो जायँ, तो भी उन सबका प्रकाश मिलकर उस महात्मा (विराटरूप परमात्मा-) के प्रकाशके सदृश शायद ही हो ।

व्याख्या—

‘दिवि सूर्यसहस्रस्य तस्य महात्मनः’—जैसे आकाशमें हजारों तारे एक साथ उदय होनेपर भी उन सबका मिला हुआ प्रकाश एक चंद्रमाके प्रकाशके सदृश नहीं हो सकता, और हजारों चन्द्रमाओंका मिला हुआ प्रकाश एक सूर्यके प्रकाशके सदृश नहीं हो सकता, ऐसे ही आकाशमें हजारों सूर्य एक साथ उदय होनेपर भी उन सबका मिला हुआ प्रकाश विराट् भगवान्के प्रकाशके सदृश नहीं हो सकता । तात्पर्य यह हुआ कि हजारों सूर्योंका प्रकाश भी विराट् भगवान्के प्रकाशका उपमेय नहीं हो सकता । इस प्रकार जब हजारों सूर्योंके प्रकाशको उपमेय बनानेमें भी दिव्यदृष्टिवाले सजयन्ने समोच होता है, तो वह प्रकाश विराटरूप भगवान्के प्रकाशका उपमान हो ही कैसे सकता है । कारण कि सूर्यका प्रकाश भौतिक है, जब कि विराट् भगवान्का प्रकाश दिव्य है, भौतिक प्रकाश कितना ही बड़ा क्यों न हो, दिव्य प्रकाशके सामने वह तुच्छ ही है । भौतिक प्रकाश और दिव्य प्रकाशकी जाति अलग-अलग होनेसे उनकी आपसमें तुलना नहीं की जा सकती । हाँ, अद्भुतनिर्देशकी तरह भौतिक प्रकाशसे दिव्य प्रकाशका मकेन किया जा सकता है । यहाँ सजय भी हजारों सूर्योंके भौतिक प्रकाशकी

कल्पना करके विरटरूप भगवान्के प्रकाश-(तेज-) का लक्ष्य कराते हैं ।

सम्बन्ध—

पूर्व श्लोकोंमें विश्वरूप भगवान्के दिव्य रूप, अथयव और तेजका वर्णन करके अब सत्रय अर्जुनद्वारा विश्वरूपके दर्शनकी बात कहते हैं ।

श्लोक—

तत्रैकस्थ जगत्कृत्स्न प्रविभक्तमनेकधा ।
अपदयद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥ १३ ॥

अर्थ—

उस समय अर्जुनने देवोंके देव भगवान्के शरीरमें एक जगह स्थित अनेक प्रकारके विभागोंमें विभक्त सम्पूर्ण जगत्को देखा ।

व्याख्या—

‘तत्रैकस्थ जगत्कृत्स्न प्रविभक्तमनेकधा’—अनेक प्रकारके विभागोंमें विभक्त अर्थात् ये देवता हैं, ये मनुष्य हैं, ये पशु-पक्षी हैं, यह पृथ्वी है, यह समुद्र है, यह आकाश है, ये नक्षत्र हैं आदि-आदि विभागोंके सहित (सकुचित नहीं, प्रत्युत विस्तारसहित) सम्पूर्ण चराचर जगत्को भगवान्के शरीरके भी एक देशमें अर्जुनने भगवान्के दिये हुए दिव्यचक्षुओंसे प्रत्यक्ष देखा । तात्पर्य यह हुआ कि भगवान् श्रीकृष्णके छोटे-से शरीरके भी एक अंशमें चर-अचर, स्थानर जङ्गमसहित सम्पूर्ण समार है । यह ससार भी अनेक ब्रह्माण्डोंके रूपमें, अनेक देवताओंके लोकोंके रूपमें, अनेक व्यक्तियों और पदार्थोंके रूपमें विभक्त और विस्तृत है—इस प्रकार अर्जुनने खुले-रूपसे देखा ।

= - 'अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा'—'तदा' का तात्पर्य है कि जिस समय भगवान्ने अपना विराटरूप दिखाया, उस समय उसको अर्जुनने देखा। 'अपश्यत्' का तात्पर्य है कि जैसा रूप भगवान्ने दिखाया, वैसा ही अर्जुनने देखा। सजय पहले भगवान्के जैसे रूप का वर्णन करके आये हैं, वैसा ही रूप अर्जुनने भी देखा।

जैसे मनुष्यलोकसे देवलोक बहुत विलक्षण है, ऐसे ही देवलोकसे भी भगवान् 'अनन्तगुणा' विश्रक्षण हैं, क्योंकि भगवान् 'देवदेव' अर्थात् देवताओंके भी देवता हैं। देवलोक आदि सप्तकेसव लोक प्राकृत हैं और भगवान् प्रकृतिसे अतीत हैं। सासारिक प्राणियोंपर कृपा करनेके लिये वे प्रकृतिको अपने वशीभूत करके योगमायासे प्रकट हो जाते हैं—'प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सभवाभ्यात्म मायया' (गीता ४।६)। अतः 'भगवान्का' प्रकृतिपर आधिपत्य है। भगवान्के सिवाय त्रिलोकीमें दूसरे जितने भी जीव हैं, वे सब के-सब प्रकृतिके अर्गत हैं और प्रकृतिके परवश होकर कर्मोंका फल भोगनेके लिये ऊँच नीच योनियोंमें आते-जाते रहते हैं। इस वास्ते भगवान् देवताओंके भी देव (मात्सरि) हैं।

सम्बन्ध—

भगवान्के अलौकिक विराटरूपसे देखनेके बाद अर्जुनकी क्या दशा हुई—इसका वर्णन सजय अगले श्लोकमें करते हैं।

श्लोक—

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टगोमा धनञ्जय ।
प्रणम्य शिरसा देव वृतात्प्रतिरभापत ॥ १४ ॥

अर्थ—

भगवान्‌के विश्वरूपको देखकर वे अर्जुन बहुत चकित हुए और आश्चर्यके कारण उनका शरीर रोमाञ्चित हो गया। वे हाथ जोड़कर विश्वरूप देवको मस्तकसे प्रणाम करके गेले।

व्याख्या—

‘तत स विस्मयाविष्टो दृष्टरोमा वनञ्जय’—अर्जुनने भगवान्‌के रूपके प्रियमें जैसी कल्पना भी नहीं की थी, वैसा रूप देखकर उनको बड़ा आश्चर्य हुआ। भगवान्‌ने मेरेपर कृपा करके विलक्षण आध्यात्मिक बातें अपनी ओरसे बतवाईं और अत्र कृपा करके मेरेको अपना विलक्षण रूप दिखा रहे हैं—इस बातको लेकर अर्जुन प्रसन्नताके कारण रोमाञ्चित हो गये।

‘प्रणम्य शिरसा देव कृताञ्जलिर्भाषत’—भगवान्‌की विलक्षण कृपाको देखकर अर्जुनका ऐसा भाव उमड़ा कि मैं इसके बदलेमें क्या कृतज्ञता प्रकट करूँ ? मेरे पास ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो मैं इनके अर्पण करूँ। मैं तो केवल शिरसे प्रणाम ही कर सकता हूँ अर्थात् अपने-आपको ही अर्पण कर सकता हूँ। अतः अर्जुन हाथ जोड़कर और सिर झुकाकर प्रणाम करते हुए विश्वरूप भगवान्‌की स्तुति करने लगे।

सम्बन्ध—

अर्जुन विराटरूप भगवान्‌की जिस विलक्षणताको देखकर चकित हुए, उसका वर्णन अगले तीन श्लोकोंमें करते हुए भगवान्‌की स्तुति करते हैं।

दलोक—

अर्जुन उवाच

पश्यामि देवास्तत्र देव देहे

सर्वास्तथा भूतविशेषसङ्घान् ।

ब्रह्माणमीश कमलासनस्थ

मूर्त्तेश्च सर्वानुरगाश्च दिव्यान् ॥१५॥

अर्ण—

अर्जुन बोले—हे देव ! मैं आपके शरीरमें सम्पूर्ण देवताओंको, प्राणियोंके विशेष-विशेष सम्पूर्ण समुदायोंको, कमलासनपर बंटे हुए ब्रह्माजीको, शङ्करजीको, सम्पूर्ण ऋषियोंको और सम्पूर्ण दिव्य सत्तोंको देख रहा हूँ ।

व्याख्या—

‘पश्यामि देवास्तत्र देव देहे सर्वास्तथा भूतविशेषसङ्घान्’—अर्जुनकी भगवत्प्रदत्त दिव्य दृष्टि इतनी निष्क्षण है कि उनको देवलोक भी अपने सामने दीख रहे हैं । इतना ही नहीं, उनको सत्र की-सत्र त्रिलोकी दीख रही है । केवल त्रिलोकी ही नहीं, प्रत्युत त्रिलोकीके उत्पादक (ब्रह्मा), पालक (विष्णु) और सहारक (महेश) भी प्रत्यक्ष दीख रहे हैं । इस वास्ते अर्जुन वर्णन करते हैं कि मैं सम्पूर्ण देवोंको, प्राणियोंके समुदायोंको और ब्रह्मा तथा शङ्करको देख रहा हूँ ।

‘ब्रह्माणमीश कमलासनस्थम्’—अर्जुन कहते हैं कि मैं कमलके ऊपर स्थित ब्रह्माजीको देखता हूँ, इससे सिद्ध होता है कि अर्जुन कमलके नालको और नालके उद्गम-स्थान अर्थात् मूल आगर भगवान् विष्णुकी (जो कि शेषशय्यापर सोये हुए हैं और जिनकी नाभिसे कमल निकला है) भी देख रहे हैं । इसके निगम भगवान्

शङ्करको, उनके कैलाश पर्वतको और त्रैलाश पर्वतपर स्थित उनके निगामस्थान ऋष्यक्षको भी अर्जुन देख रहे हैं ।

‘ऋषींश्च सर्वानुत्तमाश्च दिव्यान्’—वृद्धीपर रहनेवाले जितने भी ऋषि हैं, उनको तथा पाताललोकमें रहनेवाले दिव्य सर्पको भी अर्जुन देख रहे हैं ।

इस श्लोकमें अर्जुनके कथनसे यह सिद्ध होता है कि अर्जुनको स्वर्ग, मृत्यु और पाताल—यह त्रिलोकी अलग-अलग नहीं दीख रही है, किन्तु निभागतहित एक साथ एक जगह ही दीख रही है—‘प्रविभक्तमनेऋधा’ (गीता ११।१३) । उस त्रिलोकीसे जब अर्जुनकी दृष्टि हटती है, तो जिनको भक्तलोक ब्रह्मलोक, कैलाश और वेङ्कुण्ठलोक कहते हैं, वे भक्तोंके गन्तव्य-स्थान तथा उनके दृष्ट (ब्रह्मा, शङ्कर और ऋष्यु) भी अर्जुनको दीखते हैं । यह सब भगवत्प्रदत्त दिव्यदृष्टिका ही प्रभाव है ।

निशेष वात

जब भगवान्ने कहा कि यह सम्पूर्ण जगत् मेरे किसी एक अंशमें है, तो अर्जुन उसे दिखानेकी प्रार्थना करते हैं । अर्जुनकी प्रार्थनापर भगवान् कहते हैं कि तू मेरे शरीरमें एक जगह स्थित चराचर जगत्को देख—‘इह एकस्थ मम देहे’ (११।७) । वेदव्यासजीद्वारा प्राप्त दिव्यदृष्टियाले सजय भी यही बात कहते हैं कि अर्जुनने भगवान्के शरीरमें एक जगह स्थित सम्पूर्ण जगत्को देखा—‘तत्र एकस्थ देवदेवस्य शरीरे’ (११।१३) । यहाँ अर्जुन कहते हैं कि मैं आपके शरीरमें सम्पूर्ण

भूतसमुदाय आदि को देखता हूँ—‘तव देव देहे’। इस प्रकार भगवान् और सजयके वचनोंमें तो ‘एकस्थम्’ (एक जगह स्थित) पद आया है, पर अर्जुनके वचनोंमें, यह पद नहीं आया है। इसका कारण यह है कि अर्जुनकी दृष्टि भगवान्के शरीरमें जिन किमी एक स्थानपर गयी, वहीं उनको भगवान्का विश्वरूप दिग्यायी देने लग गया। उस समय अर्जुनकी दृष्टि सारथिरूप भगवान्के शरीरकी तरफ गयी ही नहीं। अर्जुनकी दृष्टि जहाँ गयी, वहाँ अनन्त सृष्टियाँ दीखने लग गयीं तो अर्जुनकी दृष्टि उधर ही बह गयी। इस नास्ते अर्जुन ‘एकस्थम्’ नहीं कह सके। वे ‘एकस्थम्’ तो तभी कह सकते हैं, जब विश्वरूप दीखनेके साथ-साथ सारथिरूपमें भगवान्का शरीर भी दीखे। अर्जुनको केवल विश्वरूप ही दीख रहा है, इसलिये वे विश्वरूपका ही वर्णन कर रहे हैं। उनको विश्वरूप इतना अपार दीख रहा है, जिसकी देश या कालसे कोई सीमा नहीं दीखती। तापर्य यह था कि जब अर्जुनकी दृष्टिमें विश्वरूपका ही अन्न नहीं आ रहा है, तो उसकी दृष्टि सारथिरूपसे बैठे भगवान्की तरफ जाय ही कैसे ?

भगवान् तो अपने शरीरके एक देशमें विश्वरूप दिखा रहे हैं, इस नास्ते उन्होंने ‘एकस्थम्’ कहा है। सजय सारथिरूपमें बैठ हुए भगवान्को और उनके शरीरके एक देशमें स्थित विश्वरूपको देख रहे हैं, इस नास्ते सजयने ‘एकस्थम्’ पद दिया है।*

* भगवान् और सजयके वचनोंमें ‘एकस्थम्’ पद आनेसे यह मान लेना चाहिये कि अर्जुनने भी भगवान्के शरीरमें एक जगह ही समूचा विश्वरूपको देखा।

अब प्रश्न यह होता है कि भगवान् और सजयकी दृष्टिमें वह एक जगह कान-सी थी, जिसमें अर्जुन विश्वरूप देख रहे थे ? इसका उत्तर यह है कि भगवान्के शरीरमें अमुक जगह ही अर्जुनने विश्वरूप देखा था, इसका निर्णय नहीं किया जा सकता । कारण कि भगवान्के शरीरके एक-एक रोमकूपमें अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड विराजमान हैं * । भगवान्ने भी यह कहा था कि मेरे शरीरके एक देशमें तु चराचर-सहित सम्पूर्ण जगत्को देख ले (गीता ११ । ७) । इस वास्ते जहाँ अर्जुनकी दृष्टि एक बार पड़ी, वहीं उनको सम्पूर्ण विश्वरूप दीखने लग गया ।

श्लोक—

अनेकग्राहृदरवक्रनेत्र

पश्यामि त्वा सर्वतोऽनन्तरूपम् ।

नान्त न मध्य न पुनस्तदादि

पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ॥ १६ ॥

अर्थ—

हे विश्वरूप ! हे विश्वेश्वर ! आपको मैं अनेक हाथ, पैर, मुख और नेत्रवाला तथा सब तरफसे अन्त रूपोंवाला देख रहा हूँ । मैं आपके न आदिको, न मध्यको और न अन्तको ही देख रहा हूँ ।

* रोम रोम प्रति लगे कोटि कोटि ब्रह्माण्ड (मा० १ । २०१

कैद्विधाविगणिताष्टपराणुचया-

वातायरोमविवरस्य च ते महित्वम् ॥

(श्रीमद्भा० १० । १८ । ११

व्याख्या—

‘विश्वरूप’ और ‘विश्वेश्वर’—इन दो सम्बोधनोंका तात्पर्य है कि मेरेको जो कुछ भी दीव्य रहा है, वह सब आप ही हो और इस विश्वके मालिक भी आप ही हो । सांसारिक मनुष्योंके शरीर तो जड़ होते हैं और उनमें शरीरी चैतन होता है, परन्तु आपके विराटरूपमें शरीर और शरीरी—ये दो विभाग नहीं हैं । विराटरूप में शरीर और शरीरीरूपसे एक आप ही हैं । इस वास्ते विराटरूपमें सब कुछ चि मय ही चिन्मय है । तात्पर्य यह हुआ कि अर्जुन ‘विश्वरूप’ सम्बोधन देकर यह कह रहे हैं कि आप ही शरीर हैं और ‘विश्वेश्वर’ सम्बोधन देकर यह कह रहे हैं कि आप ही शरीरी (शरीरके मालिक) हैं ।

‘अनेकराहुद्रव्यत्रनेत्रम्’—मैं आपके हाथोंकी तरफ देखता हूँ तो आपके हाथ भी अनेक हैं, आपके पेटकी तरफ देखता हूँ तो पेट भी अनेक हैं, आपके मुखकी तरफ देखता हूँ तो मुख भी अनेक हैं, और आपके नेत्रोंकी तरफ देखता हूँ तो नेत्र भी अनेक हैं । तात्पर्य है कि आपके हाथ, पेट, मुख और नेत्रोंका कोई अन्त नहीं है, सबके-सब अनन्त हैं ।

‘पश्यामि त्वा सर्वतोऽनन्तरूपम्’—आप देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, पदार्थ आदिके रूपमें चारों तरफ अनन्त ही-अनन्त दिखायी दे रहे हैं ।

‘नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिम्’—आपका कहीं अन्त है, इसका भी पता नहीं, आपका कहीं मध्य है, इसका भी पता नहीं, और आपका कहीं आदि है, इसका भी पता नहीं ।

सबसे पहले 'नान्तम्' कहनेका तात्पर्य यह माट्टम देला है कि जब कोई किसीको देखता है, तो सबसे पहले उसकी दृष्टि उस वस्तुकी सीमापर जाती है कि यह कहाँतक है। जैसे, किसी वस्तुको देखनेपर सबसे पहले उसकी सीमापर दृष्टि जाती है कि वस्तुकी लम्बाई-चौड़ाई कितनी है। ऐसे ही भगवान्के विराटरूपको देखनेपर अर्जुनकी दृष्टि सबसे पहले उसकी सीमा-(अन्त-) की ओर गयी। जब अर्जुनको उसका अन्त नहीं दीखा, तो उनकी दृष्टि मध्यभागपर गयी, फिर आदि-(आरम्भ-) की तरफ दृष्टि गयी, पर कहीं भी विराटरूपका अन्त, मध्य और आदिका पता नहीं लगा। इस वास्ते इस श्लोकमें 'नान्त न मध्य न पुनस्तवादिम्'—यह क्रम रखा गया है।

श्लोक—

किरीटिन गदिन चक्रिण च
तेजोराशि सर्वतो द्दीप्तिमन्तम् ।
पश्यामि त्वा दुर्निरीक्ष्यं समन्ता-
हीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥ १७ ॥

अर्थ—

मैं आपको किरीट, गदा, चक्र (तथा शङ्ख और पद्म) धारण किये हुए देख रहा हूँ। आपको तेजकी राशि, सब तरफ प्रकाश करनेवाले, देदीप्यमान अग्नि तथा सूर्यके समान कान्तिवाले, नेत्रोंके द्वारा कठिनतासे देखे जानेयोग्य और सब तरफसे अप्रमेय-रूप देख रहा हूँ।

व्याख्या—

'किरीटिन गदिन चक्रिणं च'—आपको म किरीट, गदा और चक्र धारण किये हुए देख रहा हूँ । यहाँ 'च' पदसे शङ्ख और पद्मको भी ले लेना चाहिये । इसका तात्पर्य ऐसा माझम देता है कि अर्जुनको विश्वरूपमें भगवान् त्रिभुजा चतुर्भुजरूप भी दीख रहा है ।

'तेजोराशिम्'—आप तेजकी राशि हैं, मानो तेजका समूह-का-समूह (अनन्त तेज) इकट्ठा हो गया हो । इसका पहले सजयने वर्णन किया है कि आकाशमें हजागे सूर्य एक साथ उदय होनेपर भी भगवान्के तेजकी बगरी नहीं कर सकते (११।१२)। ऐसे आप प्रकाशस्वरूप हैं ।

'सर्वतो दीप्तिमन्तम्'—स्वयं प्रकाशस्वरूप होनेसे आप चारों तरफ प्रकाश कर रहे हैं ।

'पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ताद् दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम्'—मूत्र देदीप्यमान अग्नि और सूर्यके समान आपकी क्रांति है । जेमे सूर्यके तेज प्रकाशके सामने आगे चँप जाती हैं, ऐसे ही आपको चँप जाती हैं । इस वास्ते आप कठिननामे देने । आपको ठीक तरहसे देख नहीं सकते ।

बड़े आश्चर्यकी बात है कि भगवान्ने अर्जुनको उमाला अर्जुन भी विश्वरूपको देदीप्यमान

आप सब तरफसे अप्रमेय (अपरिमित) हैं अर्थात् आप प्रमा-
(माप-) के विषय नहीं हैं । प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द,
अर्थापत्ति, अनुपञ्चि आदि कोई भी प्रमाण आपको बतलानेमें
काम नहीं करता, क्योंकि प्रमाणोंमें शक्ति आपकी ही है ।

सम्यन्ध—

अब अगले श्लोकमें अर्जुन भगवान्को निर्गुण-निराकार,
सगुण-निराकार और सगुण साकार रूपमें देखते हुए भगवान्की
स्तुति करते हैं ।

श्लोक—

त्वमक्षर परम वेदितव्य
त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता
सनातनस्त्व पुरुषो मनो मे ॥ १८ ॥

अर्थ—

आप ही जाननेयोग्य परम अक्षर (अक्षरब्रह्म) हैं, आप ही
इस सम्पूर्ण विश्वके परम आश्रय हैं, आप ही सनातनधर्मके रक्षक
हैं और आप ही अग्निाशी सनातन पुरुष हैं—ऐसा मैं
मानता हूँ ।

व्याख्या—

‘त्वमक्षर परम वेदितव्यम्—वेदों, शास्त्रों, पुराणों, स्मृतियों,
सन्तोंकी गाणियों और तत्त्वज्ञ जीवमुक्त महापुरुषोंद्वारा जानने-
योग्य जो परमानन्दस्वरूप अक्षरब्रह्म है, जिसको निर्गुण निराकार
कहते हैं, वे आप ही हैं ।

‘त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्—देखने, सुनने और समझनेमें
जो कुछ समार आता है, उस समारके परम आश्रय, आधार आप

व्याख्या—

'किरीटिन गदिनं चक्रिण च'—आपको मैं किरीट, गदा और चक्र धारण किये हुए देख रहा हूँ । यहाँ 'च' पदसे शङ्ख और पद्मको भी ले लेना चाहिये । इसका तात्पर्य ऐसा माझम देता है कि अर्जुनको विश्वरूपमें भगवान् विष्णुका चतुर्भुजरूप भी दीख रहा है ।

'तेजोगशिम्'—आप तेजकी राशि हैं, मानो तेजका समूह-का-समूह (अनन्त तेज) इकट्ठा हो गया हो । इसका पहले सजयने वर्णन किया है कि आकाशमें हजारों सूर्य एक साथ उदय होनेपर भी भगवान्के तेजकी बराबरी नहीं कर सकते (११।१२)। ऐसे आप प्रकाशस्वरूप हैं ।

'सर्वतो दीप्तिमन्तम्'—स्वयं प्रकाशस्वरूप होनेसे आप चारों तरफ प्रकाश कर रहे हैं ।

'पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ताद् दीप्तानलार्कद्युनिमप्रमेयम्'—खूब देदीप्यमान अग्नि और सूर्यके समान आपकी कांति है । जैसे सूर्यके तेज प्रकाशके सामने आँखें चौंर जाती हैं, ऐसे ही आपको देखकर आँखें चौंर जाती हैं । इस वास्ते आप कठिनतासे देखे जानेयोग्य हैं । आपको ठीक तरहसे देख नहीं सकते ।

[यहाँ एक बड़े आश्चर्यकी बात है कि भगवान्ने अर्जुनको दिव्यदृष्टि दी थी, पर वह दिव्यदृष्टिकेवल अर्जुन भी विश्वरूपको देखनेमें पूरा समर्थ नहीं हो रहा है । ऐसा देदीप्यमान भगवान्का स्वरूप है ।]

आप सत्र तरफमे अप्रमेय (अपरिमित) हैं अर्थात् आप प्रमा-
(माप-)के विषय नहीं हैं । प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द,
अर्थापत्ति, अनुपलब्धि आदि कोई भी प्रमाण आपको बतलानेमें
काम नहीं करता, क्योंकि प्रमाणोंमें शक्ति आपकी ही है ।

सम्बन्ध—

अब अगले श्लोकमें अर्जुन भगवान्को, निर्गुण-निराकार,
सगुण-निराकार और सगुण-साकार रूपमें देखते हुए भगवान्की
स्तुति काते हैं ।

श्लोक—

त्वमक्षर	परम	वेदितव्य
	त्वमस्य	विश्वस्य परं निधानम् ।
त्वमव्यय		शाश्वतधर्मगोप्ता
	सनातनस्त्वं	पुरुषो मतो मे ॥ १८ ॥

अर्थ—

आप ही जाननेयोग्य परम अक्षर (अक्षरब्रह्म) हैं, आप ही
इस सम्पूर्ण विश्वके परम आश्रय हैं, आप ही सनातनधर्मके रक्षक
हैं और आप ही अविनाशी सनातन पुरुष हैं—ऐसा मैं
मानता हूँ ।

व्याख्या—

‘त्वमक्षरं परम वेदितव्यम्—वेदों, शास्त्रों, पुराणों, स्मृतियों,
सन्तोंकी प्राणियों और तत्त्वज्ञ जीममुक्त महापुरुषोंद्वारा जानने-
योग्य जो परमानन्दस्वरूप अक्षरब्रह्म है, जिसको निर्गुण निराकार
कहते हैं, वे आप ही हैं ।

‘त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्’—देखने, सुनने और समझनेमें
जो कुछ मसारा आता है, उस सभारके परम आश्रय, आधार आप

ही हैं। जब महाप्रलय होता है तो सम्पूर्ण मसार कारणसहित आपमें ही लीन होता है और फिर महासर्गके आदिमें आपसे ही प्रकट होना है। इस तरह आप इस ससारके परम निगान हैं। इन पदोंसे अर्जुन सगुण निराकारका वर्णन करते हुए स्तुति करते हैं।

‘न्य शाश्वतधर्मगोप्ता’—जब धर्मकी हानि और अर्मकी वृद्धि होती है, तब आप ही अतार लेकर अर्मका नाश करके सनातनर्मकी रक्षा करते हैं। इन पदोंमें अर्जुन सगुण-माकारका वर्णन करते हुए स्तुति करते हैं।

‘अन्यय सनातनस्त्व पुरपो मतो मे’—अन्यय अर्थात् अविनाशी, सनातन, आदिरहित, सदा रहनेवाले उत्तम पुरुष आप ही हैं, ऐसा मैं मानता हूँ।

सम्बन्ध—

पद्महवसे अठारहवें, श्लोकतक आश्चर्यचकित करनेवाले देव-रूपका वर्णन करके अब भगले दो श्लोकोंमें अर्जुन उस विश्वरूपकी उग्रता, प्रभाव, सामर्थ्यका वर्णन करते हैं।

श्लोक—

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्य-

मनन्तबाहु शशिसूर्यनेत्रम् ।

पश्यामि त्वा दीप्तहुताशवक्त्रं

म्यनेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥ १९ ॥

अर्थ—

आपको मैं आदि, मध्य और अन्तसे रहित, अनन्त प्रभावशाली,

अनन्त भुजाओंवाले, चन्द्र और सूर्यमय नेत्रोंवाले, प्रज्वलित अग्निके समान मुखोंवाले और अपने तेजसे इस ससारको सतम करते हुए देख रहा हूँ ।

व्याख्या —

‘अनादिमध्यान्तम्’—आप आदि, मध्य और अन्तसे रहित हैं, अर्थात् आपकी कोई सीमा नहीं है ।

सोऋषे श्लोकमें भी अर्जुनने कहा है कि मे आपके आदि, मध्य और अन्तको नहीं देखता हूँ । वहाँ तो ‘देशकृत’ अनन्तताका वर्णन हुआ है और यहाँ ‘कालकृत’ अनन्तताका वर्णन हुआ है । तात्पर्य है कि देशकृत, कालकृत, उस्तुकृत आदि किसी तरहसे भी आपकी सीमा नहीं है । सम्पूर्ण देश, काल आदि आपके अन्तर्गत हैं, फिर आप देश, काल आदिके अन्तर्गत कैसे आ सकते हैं ? अर्थात् देश, काल आदि किसीके भी आपपर आपको मापा नहीं जा सकता ।

‘अनन्तवीर्यम्’—आपमें अपार पराक्रम, सामर्थ्य, बल और तेज है । आप अनन्त असीम शक्तिशाली हैं ।

‘अनन्तबाहुम्’—आपकी कितनी भुजाएँ हैं, इसकी कोई गिनती नहीं हो सकती । आप अनन्त भुजाओंवाले हैं ।

* साल्द्वे श्लोकमें अर्जुनने ‘अनेकनाहूदरवक्त्रनेत्रम्’ कहा और यहाँ भी ‘अनन्तबाहुम्’ कहते हैं, तो इसमें पुनरुक्ति सी दीखती है । परन्तु वास्तवमें यह पुनरुक्ति नहीं है, क्योंकि वहाँ त्रिराटरूप भगवान्के देवरूपका

‘शशिसूर्यनेत्रम्—दुनियामात्रको प्रकाशित करनेवाले जो चन्द्र और सूर्य हैं, वे आपके नेत्र हैं। इस वास्ते दुनियामात्रको आपसे ही प्रकाश मिलना है।

‘शीतहृताशक्त्रम्’—यज्ञ, होम आदिमें जो कुछ अग्निमें हवन क्रिया जाता है, उन सबको ग्रहण करनेवाले देदीप्यमान अग्निरूप मुखवाले आप ही हैं।

‘स्वतेजसा विश्वमिदं तप तम्’—अपने तेजसे सम्पूर्ण विश्वको तपानेवाले आप ही हैं। तात्पर्य, यह है कि जिन जिन व्यक्तियों, वस्तुओं, परिस्थितियों आदिसे प्रतिकूलता मिल रही है, उन-उनसे ही सम्पूर्ण प्राणी सतत हो रहे हैं। सतत करनेवाले और सतत होनेवाले—दोनों एक ही निराट्-रूपके अङ्ग हैं।

श्लोक—

घावापृथिव्योरिदमन्तर हि
 व्याप्त त्वयैकेन दिशश्च सर्वा ।
 दृष्ट्वाद्भुत रूपमुग्रं तपेद
 लोकत्रय प्रथयित महात्मन ॥ २० ॥

अर्थ—

हे महामन् ! यह स्वर्ग और पृथ्वीके बीचका अंतराल और सम्पूर्ण दिशाएँ एक आपसे ही परिपूर्ण हैं। आपके इस अद्भुत और उग्ररूपको देखकर तीनों लोक व्यथित (व्याकुल) हो रहे हैं।

वर्णन है और यहाँ उग्ररूपका वर्णन है। उग्ररूपका वर्णन होना ही यहाँ ‘विश्वमिदं तप तम्’ और अगले (तीसरे) श्लोकमें ‘दृष्ट्वाद्भुत रूपमुग्रं तपेद लोकत्रय प्रथयितम्’ पद आपसे है।

व्याख्या—

‘महात्मन्’—इस सम्बोधनका तात्पर्य है कि आपके स्वरूपके समान किसीका स्वरूप हुआ नहा, है नहीं, होगा नहीं और हो सकता भी नहीं। इस वास्ते आप ‘महात्मा’ अर्थात् महान् स्वरूपवाले हैं।

‘द्यावापृथिव्योरिदमन्तरहि व्याप्त त्वयैकेन दिशश्च सर्वा’—स्वर्ग और पृथ्वीके बीचमें जितना अन्तर्काश है, पोलहट है, वह सब पोलहट आपसे परिपूर्ण हो रही है।

पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण, पूर्व-उत्तरके बीचमें ‘ईशान’, उत्तर-पश्चिमके बीचमें ‘शशय्य’, पश्चिम-दक्षिणके बीचमें ‘नैऋत्य’ और दक्षिण-पूर्वके बीचमें ‘आग्नेय’, तथा ऊपर और नीचे—ये दसो दिशाएँ आपसे व्याप्त हैं अर्थात् इन सबमें आप-ही-आप विराजमान हैं।

‘दृष्ट्वा तु रूपमुग्र तवेद लोकात्रय प्रव्यथितम्’—[उन्नीसे श्लोकमें तथा तीसवें श्लोकके पूर्वार्धमें उग्ररूपका वर्णन करके अन्तर्काशमें लोकाके उत्तरार्धमें बाईसवें श्लोकतक अर्जुन उग्ररूपके परिणामका वर्णन करते हैं—] आपके इस अद्भुत, त्रिलक्षण, अलौकिक, आश्चर्यजनक, महान् देदीप्यमान और भयकर उग्ररूपके देखकर स्वर्ग, मृत्यु और पाताल-लोकमें रहनेवाले सभी प्राणी व्यथित हो रहे हैं, भयभीत हो रहें हैं।

यद्यपि इस श्लोकमें स्वर्ग और पृथ्वी ही बात आयी (द्यावापृथिव्यो), तथापि अर्जुनद्वारा ‘लोकात्रयम्’ कहनेके अनुसार यहाँ पाताल भी ले सकते हैं। कारण कि अर्जुनकी दृष्टि भगवान्

शरीरके किसी एक देशमें जा रही है और वहाँ अर्जुनको जो दीख रहा है, वह दृश्य कभी पातालका है, कभी मृत्युलोकका है और कभी स्वर्गका है। इस तरह अर्जुनकी दृष्टिके सामने सब दृश्य बिना क्रमके आ रहे हैं* ।

यहापर एक शङ्का होती है कि अगर विराटरूपको देखकर त्रिलोकी व्यथित हो रही है, तो दिव्यदृष्टिके बिना त्रिशूकाने विराटरूपको कैसे देखा ? भगवान् ने तो केवल अर्जुनको दिव्यदृष्टि दी थी। त्रिशूकीको विराटरूप देखनेके लिये दिव्यदृष्टि किसने दी ? कारण कि प्राकृत चर्मचक्षुओंसे यह विराटरूप नहीं देखा जा सकता, जबकि 'विश्वमिदं तपन्तम्' (११ । १९) और 'लोकत्रय प्रव्यथितम्' पदोंसे विराटरूपको देखकर त्रिलोकीके सतत और व्यथित होनेकी बात अर्जुनने कही है।

* अर्जुनने स्वर्गसे पातालतक तथा पातालसे स्वर्गतक क्रमपूर्वक विभूतिरूपको देखा हो, ऐसी बात नहीं है। अर्जुन भगवान् की हुई दिव्यदृष्टिसे स्वर्ग, भूमण्डल, पाताल आदि सबको एक साथ देख रहे हैं, और जैसे देख रहे हैं, वैसे ही बोल रहे हैं—'दे देव । मेँ आपकी देहमें देवताओंको देखा रहा हूँ, प्राणियोंके अलग-अलग समुदायोंको देखा रहा हूँ, कमथर विराजमान ब्रह्मानीको देखा रहा हूँ, त्रैलोक्यपर विराजमान शङ्करको देखा रहा हूँ, सम्पूर्ण ऋषिर्वाको देखा रहा हूँ, दिव्य स्रष्टाको देखा रहा हूँ, (११ । १५) आदि जादि। अर्जुनको ऐसा करनेमें तो देरी लगी है, पर ऐसा (सबको एक साथ) देखनेमें देरी नहीं लगी। इस वास्ते अर्जुनने उचनोग स्वर्ग, मृत्यु, पाताल आदि लोकोंका कोई क्रम नहीं है।

इसका समाधान यह है कि मत्तम और व्यथित होनेवाली त्रिभोगी भी उस विराटरूपके अन्तर्गत ही है अर्थात् विराटरूपका ही अङ्ग है । सजयने और भगवान्‌ने विराटरूपको एक केशमें देखनेकी बात (एकस्थम्) कही, पर अर्जुनने एक देशमें देखनेकी बात कहा कही । कारण कि विराटरूप देखते हुए भगवान्‌के शरीरकी तरफ अर्जुनका च्याल ही नहीं गया । उनकी दृष्टि केवल विराटरूपकी तरफ ही वह गयी । जब सारथिरूप भगवान्‌के शरीरकी तरफ भी अर्जुनकी दृष्टि नहीं गयी, तो सतत और व्यथित होनेवाले इस लौकिक समाजकी तरफ अर्जुनकी दृष्टि कैसे जा सकती है ? इससे सिद्ध होता है कि मत्तम होनेवाला आर सतत करनेवाला तथा व्यथित होनेवाला और व्यथित करनेवाला—ये चारों उस विराटरूपके ही अङ्ग हैं । अर्जुनको ऐसा दीख रहा है कि त्रिभोगी विराटरूपको देखकर व्यथित, भयभीत हो रही है, पर वास्तवमें (विराटरूपके अन्तर्गत) भयानक मिह, व्याघ्र, माप आदि जानुओंको और मृत्युको देखकर त्रिभोगी भयभीत हो रही है ।

देखने, सुनने और समझनेमें आनेवाला सम्पूर्ण ससार भगवान्‌के दिव्य विराटरूपका ही एक छोटा-सा अङ्ग है । ससारमें जो जड़ता, परिवर्तनशीलता, अदिव्यता दोषनी है, वह वस्तुतः दिव्य विराटरूपकी ही एक शलक है, एक लीला है । विराटरूपकी जो दिव्यता है, उसकी तो स्वतन्त्र सत्ता है, पर ससारकी जो अदिव्यता है, उसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है । अर्जुनको तो दिव्यदृष्टिसे भगवान्‌का विराटरूप दीखा, पर भक्तोंको भावदृष्टिसे यह ससार भगवत्स्वरूप

दीखता है—‘वासुदेव सर्वम्’। तात्पर्य है कि जैसे बचपनमें बालकका ककड-पत्थरमें जो भाव रहता है, वैसा भाव बड़ होनेपर नहीं रहता, बड़े होनेपर ककड-पत्थर उसे आवृष्ट नहीं करते, ऐसे ही भोगदृष्टि रहनेपर ससारमें जो भाव रहता है, वह भाव भोगदृष्टिके मिटनेपर नहीं रहता।

जिनकी भोगदृष्टि होती है, उनको तो ससार सत्य दीगना है, पर जिनकी भोगदृष्टि नहीं है, ऐसे महापुरुषोंको ससार भगवत्स्वरूप ही दीगना है। जैसे एक ही स्त्री बालकको माँके रूपमें, पिताको पुत्रीके रूपमें, पतिको पत्नीके रूपमें और सिंहको भोजनके रूपमें, दीखती है, ऐसे ही यह ससार ‘चर्मदृष्टि’से सद्वा, ‘वित्रेकदृष्टि’से परिवर्तनशील, ‘भावदृष्टि’से भगवत्स्वरूप और ‘दिव्यदृष्टि’से निरुद्ध-रूपका ही एक ठोठा सा अङ्ग दीखता है।

सम्बन्ध—

अथ अर्जुनकी दृष्टिके सामने (विराटरूपमें) स्वर्गादि लोकों का दृश्य आता है और वे उमका वर्णन अगले दो श्लोकोंमें करते हैं।

श्लोक—

अमी हि त्वा सुगन्धा विशति
केचिद्भ्रीता प्राञ्जलयो गृणन्ति ।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसद्वा
स्तुवन्ति त्वा स्तुतिभि पुष्कलाभि ॥ २१ ॥

अथ—

वे ही देवताओंके समुदाय आपमें प्रविष्ट हो रहे हैं। उनमेंसे कई तो भयभीत होकर हाथ जोड़ ड़ए आपके नामों और गुणोंका

कीर्तन कर रहे हैं । महर्षियों और सिद्धोंके समुदाय 'कल्याण हो ! कल्याण हो !' ऐसा कहकर उत्तम-उत्तम स्तोत्रोंके द्वारा आपकी स्तुति कर रहे हैं ।

व्याख्या—

'अमी हि त्वा सुरसङ्घा विशन्ति—जब अर्जुन स्वर्गमें गये थे, उस समय उनका जिन देवताओंसे परिचय हुआ था, उन्हीं देवताओंके लिये यहाँ अर्जुन कह रहे हैं कि वे-वे-वे देवतालोग आपके स्वरूपमें प्रविष्ट होते हुए दीख रहे हैं । ये सभी देवता आपसे ही उत्पन्न होते हैं, आपमें ही स्थित रहते हैं और आपमें ही प्रविष्ट होते हैं ।

'केचिद्धीता प्राञ्जलयो गृणन्ति'—परन्तु उन देवताओंमेंसे जिन्की आयु अभी श्यादा शेष है, ऐसे आजान देवता (विराटरूपमें अर्तर्त) नृसिंह आदि भयानक रूपोंको देखकर भयभीत होकर हाथ जोड़े हुए आपके नाम, रूप, लीला, गुण आदिका गान कर रहे हैं ।

यद्यपि देवतालोग नृसिंह आदि अवतारोंको देखकर और कालरूप मृत्युसे भयभीत होकर ही भगवानका गुणगान कर रहे हैं (जो सभी विराटरूपके ही अंग हैं), परन्तु अर्जुनको ऐसा लग रहा है कि विराटरूप भगवानको देखकर ही वे भयभीत होकर स्तुति कर रहे हैं ।

'रुस्तीरुषत्वा महर्षिसिद्धसङ्घा स्तुवन्ति त्वा स्तुतिभिः पुष्कलाभिः—सप्तर्षियों, देवर्षियों, महर्षियों, सनकादिकों और देवताओंके द्वारा खस्तिवाचन (कल्याण हो ! कल्याण हो !) हो रहा है

और बड़े उत्तम-उत्तम स्तोत्रोंके द्वारा आपको स्तुतियाँ हो रहा है ।

श्लोक—

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या
विश्येऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च ।

गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसद्वा

वीक्षन्ते त्या विसिताश्चैव सर्वे ॥ २२ ॥

अर्थ—

जो ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, आठ वसु, बारह साध्या, दस विश्वेदेव, दो अश्विनीकुमार, उन्चास मरुद्गण, सात पितृगण, गन्धर्व, यक्ष, असुर और सिद्धोंके समुदाय हैं, वे सभी चकित होकर आपको देख रहे हैं ।

व्याख्या—

‘रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च’—ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, आठ वसु, दो अश्विनीकुमार और उन्चास मरुद्गण—इन सबके नाम इसी अध्यायके छठे श्लोककी व्याख्यामें दिये गये हैं, इसलिये यहाँ देख लेना चाहिये ।

मन, अनुमन्ता, प्राण, नर, यान, त्रिति, हय, नय, हस, नारायण, प्रभव और त्रिभु—ये बारह ‘साध्या’ हैं (वायुपुराण ६६ । १५-१६) ।

क्रतु, दक्ष, श्रम, सय, काल, काम, धुनि, कुशान्, प्रनान् और रोचमान—ये दस ‘विश्वेदेव’ हैं (वायुपुराण ६६ । ३१-३२) ।

कव्यगाह, अनल, सोम, यम, अर्गमा, अग्निप्रात और बर्हिषत्—ये सात 'पितर' हैं (शिवपुराण धर्म० ६३।२)। ऊष्मर्षित् गरम अन्न खानेके कारण पितरोंका नाम 'ऊष्मपा' है।

'गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसङ्घा'—कश्यपजीकी पत्नी मुनि और गवासे तथा अरिष्टासे गन्धर्वोंकी उत्पत्ति हुई है। गन्धर्वलोग गण रागिनियोंकी प्रियामें गड़े बनुर हैं। ये स्वर्गाशोकके गावक हैं।

कश्यपजीकी पत्नी स्वसासे यक्षोंकी उत्पत्ति हुई है।

देवताओंके विरोधी* दैत्या, दानवों और असुरोंको असुर कहते हैं। कपिल आदिको मित्र कहते हैं।

'वोक्षन्ते त्वा विस्मिन्नाश्चेय सर्व'—उपर्युक्त सभी देवता, पितर, गन्धर्व, यक्ष आदि चकित होकर आपको देख रहे हैं। ये सभी देवता आदि विराट्स्वरूपके ही अंग हैं।

सम्यन्ध—

अब अर्जुन अगले तीन श्लोकोंमें विश्वरूपके महान् विक्राल रूपका वर्णन करके उसका परिणाम बताते हैं।

श्लोक—

रूप	महत्ते	बहुवक्त्रनेत्र
	महाबाहो	बहुनाह्वरूपादम् ।
बह्वक्षर	बहुदंष्ट्राकराल	
	दृष्ट्वा	लोका प्रव्यथितास्तथाहम् ॥ २३ ॥

अर्थ—

हे महाबाहो ! आपके बहुत मुख और नेत्रोंवाले, बहुत मुजा,

* जहाँ देवताओं और असुरोंका एक साथ वर्णन आता है, वहाँ 'असुर' शब्द देवताओंके विरोधी अर्थमें आता है।

जघा और चरणोंवाले, बहुत उदरोवाले, बहुत विकराल दाढ़ीवाले महान् रूपको देखकर सब प्राणी व्यथित हो रहे हैं तथा मैं भी व्यथित हो रहा हूँ ।

व्याख्या—

[पन्द्रहवेंसे अठारहवें श्लोकतक त्रिंशत् रूपमें 'देव'-रूपका, उन्नीसवेंसे बाईसवें श्लोकतक 'उग्र' रूपका और तेईसवेंसे तीसवें श्लोकतक 'अत्यन्त उग्र' रूपका वर्णन हुआ है ।]

'बहुवचनेषु'—आपके मुख एक एकसे नहीं मिलते । कई मुख सौम्य हैं और कई विकराल हैं । कई मुख छोटे हैं और कई बड़े हैं । ऐसे ही आपके जो नेत्र हैं, वे भी सभी एक समान नहीं दीख रहे हैं । कई नेत्र सौम्य हैं और कई विकराल हैं । कई नेत्र छोटे हैं, कई बड़े हैं, कई लम्बे हैं, कई चौड़े हैं, कई गोल हैं, कई टेढ़े हैं आदि-आदि ।

'बहुधातुरूपादम्'—हाथोंकी बनावट, वर्ण, आकृति और उनके कार्य विलक्षण-विलक्षण हैं । जघाएँ विचित्र-त्रिचित्र हैं और चरण भी तरह तरहके हैं ।

'बहुदरम्'—पेट भी एक समान नहीं है । कोई बड़ा, कोई छोटा, कोई भयंकर आदि कई तरहके पेट हैं ।

'बहुदृष्टाकराल दृष्टा लोका प्रव्ययितास्तथाहम्'—मुरोंमें बहुत प्रकारकी विकराल दाढ़े हैं । ऐसे महान् भयंकर, विकराल रूपको देखकर सब प्राणी व्याकुल हो रहे हैं और मैं भी व्याकुल हो रहा हूँ ।

इस श्लोकसे पहले कहे हुए श्लोकोंमें भी अनेक मुखों, नेत्रों आदिकी और सत्र लोगोंके भयभीत होनेकी बात आयी है। अब अर्जुन एक ही बात बार-बार क्यों कह रहे हैं ? इसका कारण है कि—(१) विराटरूपमें अर्जुनकी दृष्टिके सामने जो जो रूप आता है, उस-उसमें उनको नयो-नयो विलम्बगता और अद्भुतता दीख रही है।

(२) विराटरूपको देखकर अर्जुन इतने घबरा गये, चकित हो गये, चकरा गये, व्यथित हो गये कि उनको यह ख्याल ही नहीं रहा कि मैंने क्या कहा है और मैं क्या कह रहा हूँ ?

(३) पहले तो अर्जुनने तीनों लोकोंके व्यथित होनेकी बात कही थी, पर यहाँ सत्र प्राणियोंके साथ-साथ स्वयंके भी व्यथित होनेकी बात कहते हैं।

(४) एक बातको बार-बार कहना अर्जुनके भयभीत और आश्चर्यचकित होनेका चिह्न है। सप्तामें देवा भी जाता है कि जिसको भय, हर्ष, शोक, आश्चर्य आदि होते हैं, उसके मुखसे स्वाभाविक ही क्रिपी शब्द या ताक्यता बार-बार उच्चारण हो जाता है, जैसे—कोई साँपको देखकर भयभीत होता है तो वह बार-बार 'साँप ! साँप ! साँप !' ऐसा कहता है। कोई सज्जन पुरुष आता है तो हर्षमें भरकर कहते हैं—आइये ! आइये ! आइये ! कोई प्रिय व्यक्ति मर जाता है तो शोकाकुल होकर कहते हैं—मैं मारा गया, मारा गया ! घरमें अँग्रे हो गया, अँग्रे हो गया ! अचानक कोई आफत आ जाती है तो मुखसे निकलता है—मैं मरा ! मरा ! मरा ! ऐसे ही

यहाँ विश्वरूप-दर्शनमें अर्जुनके द्वारा भय और हर्षके कारण कुछ शब्दों और वाक्योका बार-बार उच्चारण हुआ है । अर्जुनने भय और हर्षको स्वीकार भी किया है—‘अदृष्टपूर्वं दृपितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथित मनो मे’ (११ । ४७) तात्पर्य है कि भय, हर्ष, शोक आदिमें एक बातको बार-बार कहना पुनरुक्ति दोष नहीं माना जाता ।

श्लोक—

नभ स्पृश

क्षीप्तमनेकवर्णं

व्यात्तानन

क्षीप्तविशालनेत्रम् ।

दृष्ट्वा हि त्वा प्रव्यथितान्तरात्मा

घृतिं न विन्दामि शम च विष्णो ॥ २४ ॥

अर्थ—

हे विष्णो ! आपके अनेक वर्ण हैं, आप आकाशको स्पर्श कर रहे हैं, आपका मुख फैला हुआ है, आपके नेत्र प्रदीप्त और विशाल हैं । ऐसे देदीप्यमान आपको देखकर भयभीत अन्त करणनाल में धैर्य और शान्तिको प्राप्त नहीं हो रहा हूँ ।

व्याख्या—

[बीसवें श्लोकमें तो अर्जुनने विराटरूपकी लम्बाई चौड़ाईका वर्णन किया, अब यहाँ केवल लम्बाईका वर्णन करते हैं ।]

‘विष्णो’—आप साक्षात् सर्वव्यापक विष्णु हैं, जिन्होंने पृथ्वीका भार दूर करनेके लिये कृष्णरूपसे अवतार लिया है ।

‘अनेकवर्णम्’—आपके काला, पीला, श्याम, गौर आदि अनेक वर्ण हैं ।

‘नभःस्पृशम्’—आपका स्वरूप इतना लम्बा है कि वह आकाशको स्पर्श कर रहा है ।

वायुका गुण होनेसे स्पर्श वायुका ही होता है, आकाशका नहीं। फिर यहाँ आकाशको स्पर्श करनेका तात्पर्य क्या है ? मनुष्यकी दृष्टि जहाँतक जाती है, वहाँतक तो उसको आकाश दीखता है, पर उसके आगे कालापन दिखायी देता है । कारण कि जब दृष्टि आगे नहीं जाती, धक जाती है तो वह जहाँसे लौटती है, जिससे आगे कालापन दीखता है । यही दृष्टिका आकाशको स्पर्श करना है । ऐसे ही अर्जुनकी दृष्टि जहाँतक जाती है, वहाँतक उनको भगवान्का विरारूप दिखायी देता है । इसका तात्पर्य यह हुआ कि भगवान्का विरारूप असीम है, जिसके सामने दिव्यदृष्टि भी सीमित ही है ।

‘ध्यात्तानन दीप्तविशालनेत्रम्’—जैसे कोई भयानक जन्तु किसी जन्तुको खानेके लिये अपना मुख फैलाता है, ऐसे ही मात्र विश्वको चट करनेके लिये आपका मुख फैला हुआ दीख रहा है ।

आपके नेत्र बड़े ही देदीप्यमान और विशाल दीख रहे हैं ।

‘दृष्ट्वा हि त्वा प्रव्यथितान्तरात्मा धृतिं न चिन्दामि शमं च विष्णो’—इस तरह आपको देखकर मैं भीतरसे बहुत व्यथित हो रहा हूँ । मेरेको कहींसे भी धैर्य नहीं मिल रहा है और शान्ति भी नहीं मिल रही है ।

यहाँ एक शङ्का होती है कि अर्जुनमें एक तो खुदकी सामर्थ्य है और दूसरी, भगवत्प्रदत्त सामर्थ्य (दिव्यदृष्टि) है । फिर भी अर्जुन तो विश्वरूपको देखकर डर गये, पर सजय नहीं डरे । इसमें

क्या कारण है ? सन्तोसे ऐसा सुना है कि भीष्म, विदुर, सजय और कुन्ती—ये चारो भगवान् श्रीकृष्णके तत्त्वको, विशेषतासे जाननेवाले थे । इस वास्ते सजय पहलेसे ही भगवान्के तत्त्वको, उनके प्रभावको जानते थे, जबकि अर्जुन भगवान्के तत्त्वको उतना नहीं जानते थे । अर्जुनका निमूढ़भाव (मोह) अभी सर्पया दूर नहीं हुआ था (गीता ११ । ४२) । इस निमूढ़भावके कारण अर्जुन भयभीत हुए । परन्तु सजय भगवान्के तत्त्वको जानते थे अर्थात् उनमें निमूढ़भाव नहीं था, इस वास्ते वे भयभीत नहीं हुए ।

उपर्युक्त निवेचनसे एक बात सिद्ध होती है कि भगवान् और महापुरुषोक्ती कृपा विशेषरूपसे अयोग्य पुरुषोंपर होती है, पर उस कृपाको विशेषरूपसे योग्य पुरुष ही जानते हैं । जैसे, छोटे बच्चेपर माँका ज्यादा स्नेह होता है, पर बड़ा लड़का माँको जितना जानता है, उतना छोटा बच्चा नहीं जानता । ऐसे ही भोले-भाले, सीधे-सादे ब्रजवासी, ग्वालबाल, गोप-गोपी और गाय—इनपर भगवान् जितना अधिक स्नेह करते हैं, उतना स्नेह जीवन्मुक्त महापुरुषोंपर नहीं करते । परन्तु जीवन्मुक्त महापुरुष ग्वालबाल आदिकी अपेक्षा भगवान्को विशेषरूपसे जानते हैं । सजयने निम्नरूपके लिये प्रार्थना भी नहीं की और निम्नरूपको देव लिया । परन्तु निम्नरूप देखनेके लिये अर्जुनको स्वयं भगवान्ने ही उत्कण्ठित किया और अपना निम्नरूप भी दिखाया, क्योंकि सजयकी अपेक्षा भगवान्के तत्त्वको जाननेमें अर्जुन छोटे थे और भगवान्के साथ सखाभाव रखते थे । इस वास्ते अर्जुनपर भगवान्की कृपा ज्यादा थी । इस कृपाके कारण

अन्तमें अर्जुनका मोह भी नष्ट हो गया—‘नष्टो मोह त्वत्प्रसादात्’
(गीता १८। ७३) इससे सिद्ध होता है कि कृपापात्रका मोह
अन्तमें नष्ट हो ही जाता है।

श्लोक—

दृष्टाकरालानि च ते मुखानि
दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि ।
दिशो न जाने न लभे च शर्म
प्रसीद् देवेश जगन्निवास ॥ २५ ॥

अर्थ—

आपके प्रलयकालकी अग्निके समान प्रज्वलित और दाढ़ोंके
कारण विकराल (भयानक) मुखोंको देखकर मेरेको न तो
दिशाओंका ज्ञान हो रहा है और न शान्ति ही मिल रही है। इस
वास्ते हे देवेश ! हे जगन्निवास ! आप प्रसन्न होइये।

ब्याख्या—

‘दृष्टाकरालानि च ते मुखानि दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि’—
महाप्रलयके समय सम्पूर्ण त्रिलोकीको भस्म करनेवाली जो अग्नि प्रकट
होती है, उसे सर्तक अथवा कालाग्नि कहते हैं। उस कालाग्निके
समान आपके मुख हैं, जो भयकर-भयकर दाढ़ोंके कारण बहुत
विकराल हो रहे हैं। उनको देखनेमात्रसे ही बड़ा भय लग रहा है।
अगर उनका कार्य देखा जाय तो उसके सामने किसीका टिकना ही
मुश्किल है।

‘दिशो न जाने न लभे च शर्म’—ऐसे विकराल मुखोंको देखकर
मेरेको दिशाओंका भी ज्ञान नहीं हो रहा है। इसका तात्पर्य है कि
दिशाओंका ज्ञान होता है सूर्यके उदय और अस्त होनेसे। पर वह सूर्य

कह तो आपके विरुद्ध
 चारों ओर महान् प्रचलित
 (१२), जिमका न उदय
 नैली दिशाओंका ज्ञान नहीं
 करने के कारण मैं किती
 कर रहा हूँ ।

उब देवताओंके मालिक
 कर रहा है । अत
 ही तो पुकारेगा
 और कौन
 कह रहा हूँ कि
 ऐसे व्या
 लेख

म
 म
 म

चयत्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति

दृष्टाकरालानि

भयानकानि ।

केचिद्विलग्ना

दर्शनान्तरेषु

सदृश्यन्ते

चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः ॥२७॥

अथ—

- हमारे मुख्य योद्धाओंके सहित भीष्म, द्रोण और वह कर्ण भी आपमें प्रविष्ट हो रहे हैं । राजाओंके समुदायोंके सहित धृतराष्ट्रके वे सत्र-के-सत्र पुत्र पित्राल दाढोंके कारण भयकर आपके मुखोंमें बड़ी तेजीसे प्रविष्ट हो रहे हैं । उनमेंसे कई एक चूर्ण हुए सिरोंसहित आपके दाँतोंके बीचमें फँसे हुए दीख रहे हैं ।

व्याख्या—

‘भीष्मो द्रोण सूतपुत्रस्तथासौ सहाम्मदीयैरपि योधमुख्यैः—

हमारे पक्षके धृष्टद्युम्न, विराट्, दुपद आदि जो मुख्य-मुख्य योद्धालोग हैं, वे सत्र-के-सत्र धर्मके पक्षमें हैं और केवल अपना कर्तव्य समझकर युद्ध करनेके लिये आये हैं । हमारे इन सेनापतियोंके साथ पितामह भीष्म, आचार्य द्रोण, और वह प्रसिद्ध सूतपुत्र कर्ण आपमें प्रविष्ट हो रहे हैं ।

यहाँ भीष्म, द्रोण और कर्णका नाम लेनेका तात्पर्य है कि ये तीनों ही अपने कर्तव्यका पालन करनेके लिये युद्धमें आये हैं* ।

* भीष्म—भीष्मजीकी प्रतिज्ञा दुनियामें प्रसिद्ध है कि उन्होंने पिताजीकी प्रसन्नताके लिये ब्याह न करनेकी प्रतिज्ञा की और ब्राह्मण ब्रह्मचारी रहे । इस प्रतिज्ञापर वे इतने डटे रहे कि गुरु परशुरामजीके साथ युद्ध किया, पर अपनी प्रतिज्ञा नहीं तोड़ी । भगवान्ने पहले हाथमें शस्त्र ग्रहण न करनेकी प्रतिज्ञा की थी । परन्तु जब भीष्मजीने

करना चाहते हैं* अर्थात् दुर्योधनको हितकी सलाह नहीं दे रहे हैं, उन सभी राजाओंके समूहोंके साथ धृतराष्ट्रके दुर्योधन, दुःशासन आदि सौ पुत्र विकराल दाढ़ोंके कारण अत्यन्त भयानक आपके मुखोंमें बड़ी तेजीसे प्रवेश कर रहे हैं—'बध्नाणि ते त्वरमाणा विशान्ति दष्ट्राकरालानि भयानकानि' ।

गिराटरूपमें वे आ रहे भगवान्में प्रवेश करें, चाहे मुखोंमें जायँ वह एक ही लीला है । परन्तु भावोंके अनुसार उनकी गतियाँ अलग-अलग प्रतीत हो रही हैं । इस वारते भगवान्में जायँ अथवा मुखोंमें जायँ, वे हैं तो गिराटरूपमें ही ।

'केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु संदृश्यन्ते चूर्णितैरुचमाङ्गैः'— जैसे, खाद्य-पदार्थोंमें कुछ पदार्थ ऐसे होते हैं, जो चबाने समय सीधे पेटमें चले जाते हैं, पर कुछ पदार्थ ऐसे होते हैं, जो चबाने समय दाँतों और दाढ़ोंके बीचमें फँस जाते हैं । ऐसे ही आपके मुखोंमें प्रविष्ट होनेवालोंमेंसे कई एक तो सीधे भीतर (पेटमें) चले जा रहे हैं, पर कई एक चूर्ण हुए मस्तकोंसहित आपके दाँतों और दाढ़ोंके बीचमें फँसे हुए दीख रहे हैं ।

पुत्र दे दिये, जिसमें उन्होंने कहा कि 'माँ ! मैं युधिष्ठिर, भीम, नकुल, और सहदेवको तो मारूँगा नहीं, पर अर्जुनके साथ मेरा युद्ध होगा । युद्धमें अगर अर्जुन मेरेको मार देगा, तो तेरे पाँच पुत्र रहेंगे ही और अगर मैं अर्जुनको मार दूँगा, तो भी मेरेसहित तेरे पाँच पुत्र रहेंगे ।'

* घातराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेयुद्ध प्रियचिकीर्षय । (गीता १ । २३) ।

यहाँ एक शङ्का होती है कि योद्धान्तर्गत तो अभी सामने युद्ध क्षेत्रमें खड़े हुए हैं, फिर वे अर्जुनको विराटरूपके मुखोंमें जाते हुए कैसे दिखायी दिये ? इसका समाधान यह है कि भगवान् विराटरूप में अर्जुनको आसन्न भगिण्यकी बात दिखा रहे हैं। भगवान् विराटरूप दिखाते समय अर्जुनसे कहा था कि तू और भी जो कुछ देखना चाहता है, यह भी मेरे इस विराटरूपमें देख ले (११।७) अर्जुनके मनमें यह सन्देह था कि युद्धमें हमारी जीत होगी, या कौरवोंकी ? (२।६) इस वास्ते उस सन्देहको दूर करनेके लिये भगवान् अर्जुनको आसन्न भगिण्यका दृश्य दिखाकर मानो यह बताते हैं कि युद्धमें तुम्हारी ही जीत होगी। आगे अर्जुनके द्वारा प्रश्न करनेपर भी भगवान्ने यही बात कही है (११।३२-३४)।

सम्बन्ध—

जो अपना कर्तव्य समझकर धर्मकी दृष्टिसे युद्धमें आये हैं और जो परमात्माकी प्राप्ति चाहनेवाले हैं—ऐसे पुरुषोंका विराटरूपमें नदियोंके इष्टान्तसे प्रवेश करनेका वर्णन अर्जुन अगले श्लोकमें करते हैं।

श्लोक—

यथा नदीना नदवोऽम्बुवेगा
समुद्रमेवाभिमुखा त्रिचन्ति ।
तथा नवामी इन्द्रलोचवीरा
विशन्ति यज्ञप्राण्यभिविध्वलन्ति ॥ २८ ॥

अर्थ—

जैसे नदियोंके बहुत-से बलके प्रवाह सामावित

सम्मुख ही दौड़ते हैं, ऐसे ही वे ससारके महान् शरीर भी आपके प्रज्वलित मुखोंमें प्रवेश कर रहे हैं ।

व्याख्या—

‘यथा नदीना वहवोऽम्बुवेगा समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति’—
 मूलमें जलमात्र समुद्रका है । वही जब बादलोंके द्वारा वर्गारूपमें पृथ्वीपर उतरकर झरने, नाले आदिको लेकर नदियोंका रूप धारण करता है । उन नदियोंके जितने वेग हैं, प्रवाह हैं, वे सभी स्वाभाविक ही समुद्रकी तरफ ही दौड़ते हैं । कारण कि जलका उद्गमस्थान समुद्र ही है । वे सभी जल-प्रवाह समुद्रमें जाकर अपने नाम और रूपको छोड़कर अर्थात् गङ्गा, यमुना, सरस्वती आदि नामोंको और प्रवाहके रूपको छोड़कर समुद्ररूप ही हो जाते हैं । फिर वे जल-प्रवाह समुद्रके सिवाय अपना कोई अलग स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रखते । वास्तवमें तो उनका स्वतन्त्र अस्तित्व पहले भी नहीं था, केवल नदियोंके प्रवाहरूपमें होनेके कारण वे अलग दौड़ते थे ।

‘तथा तवामो नरलोकवीरा विशन्ति वक्त्राण्यभिविन्ध्वलन्ति’
 —नदियोंकी तरह ही मात्र जीव नियमुखकी अभिधायको लेकर परमात्माके सम्मुख ही दौड़ते हैं । परन्तु मूलसे अमृत, नाशवान् शरीरके साथ सन्ध्या मान लेनेसे वे सासारिक सप्रह और सयोग-जन्य सुखमें लगे जाते हैं तथा अपना अलग अस्तित्व मानने लगते हैं । उन जीवोंमें वे ही वास्तविक शूरीर हैं, जो सासारिक सप्रह और सुखभोगमें न आकर, जिसके लिये शरीर मिला है, उस परमात्म-प्राप्तिके मार्गमें ही तप/तापमें लगे हुए हैं । ऐसे युद्धमें आये हुए

भीष्म, द्रोण आदि नरलोकवीर आपके प्रकाशमय (ज्ञानखरू मुखोंमें प्रविष्ट हो रहे हैं ।

सामने दीखनेवाले लोगोंमें परमात्मप्राप्ति चाहनेवाले लोग मिल हैं और बहुत थोड़े हैं । इस वास्ते उनके लिये परोक्षराचक 'अमी' (वे) दिया गया है ।

सम्यन्ध—

जो राज्य और प्रशसाके लोभसे युद्धमें [आये हैं और सांसारिक सप्रह और भोगोंकी प्राप्तिमें लगे हुए हैं—ऐसे पुरु विराटरूपमें पतगोंके दृष्टान्तसे प्रवेश करनेका घर्षण अर्जुन अः श्लोकमें करते हैं ।

श्लोक—

यथा प्रदीप्त ज्वलन पतङ्गा
विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः ।
तथैव नाशाय विशान्ति लोका-
स्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥ २९

अर्थ—

जैसे पतंगे मोहवश अपना नाश करनेके लिये बड़े वेग दौड़ते हुए प्रज्वलित अग्निमें प्रविष्ट होते हैं, ऐसे ही ये सब लो मोहवश अपना नाश करनेके लिये ही बड़ वेगसे दौड़ते हुए आपके मुखोंमें प्रविष्ट हो रहे हैं ।

व्याख्या—

यथा प्रदीप्त ज्वलन पतङ्गा विशन्ति नाशाय समृद्धवेगा - जैसे हरी-हरी धारुमें रहनेवाले पतंगे चतुर्गम्यकी अंधेरी रात्रिमें कहीं-पर प्रज्वलित अग्नि देखते हैं, तो उसपर मुग्ध होकर (कि बहुत)

नाश प्रकाश मिट गया, हम इससे लाभ ले लेंगे, हमारा अँधेरा मिट
 पगा) उसकी तरफ बड़े जोरसे टोडने है। उनमेंसे कुछ तो
 अश्वलिप्त अग्निमें म्याहा हो जाते हैं, कुछको अग्निकी थोड़ी-सी
 लग जाती है तो उनका उड़ना बढ हो जाता है और वे तडपते
 हैं। फिर भी उनकी लालसा उस अग्निकी तरफ ही रहती है।
 कि कोई पुरुष दया करके उस अग्निको बुझा देता है तो वे पतगे
 दुखी हो जाते हैं कि उसने हमारेको बड़े लाभसे उचित कर
 दिया।

‘तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्तथापि वक्त्राणि समृद्धवेगा’
 —भोग भोगने और सप्रह करनेमें ही तत्परतापूर्वक लगे रहना और
 मनमें भोगों और सप्रहका ही चिन्तन होते रहना—यह बढा हुआ
 सांसारिक वेग है। ऐसे वेगवाले दुर्योधनादि राजालोग पतगोकी
 तरह बड़ी तेजीसे कालचक्ररूप आपके मुखमें जा रहे हैं
 अर्थात् पतनकी तरफ जा रहे हैं—‘चौरासी लक्ष योनियों और
 नरकोंकी तरफ जा रहे हैं। तात्पर्य यह हुआ कि प्रायः मनुष्य
 सांसारिक भोग, सुख, आराम, मान, आदर आदिको प्राप्त करनेके
 लिये रात-दिन टौडते हैं। उनको प्राप्त करनेमें उनका अपमान होता
 है, निन्दा होनी है, घाटा लगना है, चिन्ता होती है, अन्त करणमें
 जलन होती है और जिस आयुके बत्पर वे जी रहे हैं, वह आयु भी
 समाप्त होती जाती है, फिर भी वे नाशवान् भोग और सप्रहकी प्राप्तिके
 लिये भीतरसे लालायित रहते हैं।*

* अजानन् माहात्म्यं पतति शलभो दीपदहने

न मीनोऽयज्ञानाद्द्विश्युतमश्नाति पिशितम् ।

सम्बन्ध—

पहलेके दो श्लोकोंमें दो दृष्टा तोसे दोनों समुदायोंका प्रश्न करके अब सम्पूर्ण लोकोंका प्रश्न करते हुए विश्वरूपभक्तके भयानक रूपका वर्णन करते हैं ।

श्लोक—

लेलिह्यसे असमान समन्ता-

ल्लोकान्समग्रान्वदनेर्ज्वलद्भिः ।

तेजोभिरापूर्य जगत्प्रमथ

भासस्तद्योगा प्रतपन्ति विष्णो ॥ ३० ॥

अर्थ—

आप सम्पूर्ण लोकोंको प्रप्रन्नित मुखोद्वारा प्राप्त करते हुए चारों तरफसे बार-बार चाट रहे हैं और हे विष्णो ! आपका उग्र प्रकाश अपने तेजसे सम्पूर्ण जगत्को परिपूर्ण करके सबको तपा रहा है ।

व्याख्या—

‘लेलिह्यसे असमान समन्ताल्लोकान्समग्रान्वदनेर्ज्वलद्भिः’ आप सम्पूर्ण लोकोंका सहार कर रहे हैं और कोई इधर-उधर न चला

प्रितान-तोऽप्येते धयमिह विपञ्जालजटिलान्

न मुञ्चाम कामाहह गदनी मोहमहिमा ॥

(भर्तृःविवैराग्यशतक)

‘पतङ्ग दीपके दाहक स्वरूपको न जाननेके कारण ही उगपर गिरता है, मछली भी अज्ञानवश ही बगीमें लगे हुए मासके दृक्दृको निगलता है, परन्तु हमलोग जानते हुए भी प्रित्तिये जटिल जालमें फँसानेवाली कामनाओंको नहीं छोड़ते, अहो ! मोहकी महिमा बढ़ी गइर है ।’

जाय इस वास्ते बार-बार जीभके लपेटेसे अपने प्रयत्नित मुखोंमें लेते हुए उनका प्रसन कर रहे हैं। तात्पर्य हे कि काठरूप भगवान्की जीभके लपेटसे कोई भी प्राणी बच नहीं सकता।

‘तेजोभिरापर्यं जगत्समग्रं भागस्तवोग्रा प्रतपन्ति त्रिण्णो’—
निराट् रूप भगवान्का तेज बड़ा उग्र टे। वह उग्र तेज सम्पूर्ण जगत्में परिपूर्ण होकर सबको मतल कर रहा है, व्यथित कर रहा टे।

सम्भव—

निराट् रूप भगवान् अपने विलक्षण-विलक्षण रूपोंका दर्शन कराते ही चले गये। उनके भयंकर और अत्यन्त उग्र रूपके सुरोंमें दोनों पक्षोंके योद्धा जाते देखकर अर्जुन बहुत घबरा गये। अतः अत्यन्त उग्ररूपधारी भगवान्का वास्तविक परिचय जाननेके लिये अर्जुन प्रश्न करते हैं।

श्लोक—

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो
नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद।
विश्वामिच्छामि भवन्तमाद्य
न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥ ३१ ॥

अर्थ—

मेरेको यह बताइये कि उग्ररूपवाले आप कौन हैं ? हे देवताओमें श्रेष्ठ ! आपको नमस्कार हो। आप प्रसन होइये। आदिरूप आपको मैं तबसे जानना चाहता हूँ, क्योंकि मैं आपकी प्रवृत्तिको नहीं जानता।

व्याख्या—

‘आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद’
—आप त्रिण्णुरूपसे भी प्रकट रहे हो. अनन्तरूपसे भी दीप्त रहे

हो और उग्ररूपसे भी दीव रहे हो, तो वास्तवमें ऐसे रूपोंको धारण करनेवाले आप कौन हैं ?

अत्यन्त उग्र निराद्वैतरूप देखकर भयके कारण अर्जुन नमस्कारके सिवाय और करते भी क्या ? जब अर्जुन भगवान्‌के ऐसे निराद्वैतरूपके समझनेमें सूर्या असूर्य हो गये तो अन्तमें कहते हैं कि हे देवताओं में श्रेष्ठ ! आपको नमस्कार है ।

भगवान् अपनी जीभसे सबको अपने मुखोंमें लेकर बार बार चाट रहे हैं, ऐसे भयकर वर्तानको देखकर अर्जुन प्रार्थना करते हैं कि आप प्रसन्न हो जाइये ।

‘विज्ञानुमिच्छामि भगन्तमाद्य न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम्’
—भगवान्‌का पहला अन्तर निराद्वै- (समारके-) रूपमें ही हुआ था । इस वास्ते अर्जुन कहते हैं कि आदिनारायण ! आपको मैं स्पष्टरूपसे नहीं जानता हूँ । मैं आपकी इस प्रवृत्तिको भी नहीं जानता हूँ कि आप यहाँ क्यों प्रकट हुए हैं ? और आपके मुखोंमें हमारे पक्षके तथा निपक्षके गड़त-से योद्धा प्रविष्ट होते जा रहे हैं, अतः वास्तवमें आप क्या करना चाहते हैं ? तार्थ्य यह हुआ कि आप कौन हैं और क्या करना चाहते हैं—इस बातको मैं जानना चाहता हूँ और इसको आप ही स्पष्टरूपसे बताइये ।

एक प्रश्न होता है कि भगवान्‌का पहला अन्तर निराद्वै- (समारके) रूपमें हुआ और अभी अर्जुन भगवान्‌के किसी एक देशमें निराद्वैतरूप देख रहे हैं—ये दोनों निराद्वैतरूप एक ही हैं या

अलग-अलग : इसका उत्तर यह है कि पान्त्विक बान तो भगवान् ही जानें, पर विचार करनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि अर्जुनने जो विराटरूप देखा था, उसीके अन्तर्गत यह समारूपी विराटरूप भी था। जैसे कहा जाता है कि भगवान् सर्वव्यापी हैं, तो इसका तात्पर्य केवल इतना ही नहीं है कि भगवान् केवल सम्पूर्ण ससारमें ही व्याप्त हैं, प्रत्युत भगवान् ससारसे बाहर भी व्याप्त हैं। ससार तो भगवान्के किसी अंशमें है तथा ऐसी अनन्त सृष्टियाँ भगवान्के किसी अंशमें हैं। ऐसे ही अर्जुन जिस विराटरूपको देखा रहे हैं, उसमें यह ससार भी है और इसके मियाँ और भी बहुत कुछ है।

सम्बन्ध—

पूर्वश्लोकमें अर्जुनने प्रार्थनापूर्वक जो प्रश्न किया था, उसका यथार्थ उत्तर भगवान् अगले श्लोकमें देते हैं।

श्लोक—

श्रीभगवानुवाच

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो
 लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः ।
 ऋतेऽपि त्वा न भविष्यन्ति सर्वे
 येऽवस्थिता प्रत्यनीकेषु योधाः ॥ ३२ ॥

अर्थ—

श्रीभगवान् बोले—मैं सम्पूर्ण लोकोंका क्षय करनेवाला बड़ा हुआ काल हूँ और इस समय मैं इन सब लोगोंका सहार करनेके लिये यहाँ आया हूँ। तुम्हारे प्रतिशत्रुमें जो योद्धानेग पडे हैं, वे सब तुम्हारे युद्ध क्रिये म्रिना भी नहीं रहेंगे।

व्याख्या—

[भगवान्का विश्वरूप विचार करनेपर बहुत विस्मयण माटम दता ट, क्योंकि उसको देखनेमें अर्जुनकी दिव्यदृष्टि भी पूरी तरहसे काम नहीं कर रही है और वे विश्वरूपको कठिनतासे देखे जानेयोग्य बनाते हैं—'दुर्निरीक्ष्य समन्तात्' (१ । १७) । यहाँ भी वे भगवान्से पूछ बैठते हैं कि उम रूपवाते आप कौन हैं ? ऐसा माटम देना ट कि अगर अर्जुन भयभीत होकर ऐसा नहीं पूछते तो भगवान् और अत्रिक विस्मयणरूपमे प्रकट होने ही चले जाते । परन्तु अर्जुनके बीचमें ही पूछनेसे भगवान्ने ओर आगेका रूप दिखाना उद कर दिया और अर्जुनके प्रश्नका उत्तर देने लगे ।]

'कालोऽस्मि लोकभयकृत्प्रवृद्ध'—पूर्वश्लोकमें अर्जुनने पूछा था कि उम रूपवाले आप कौन हैं—'जाय्याहि मे को भवानुप्ररूप' उसके उत्तरमें विराटरूप भगवान् कहते हैं कि मैं मम्पूर्ण लोकोका क्षय (नाश) करनेवाला उड भयकर रूपमे उदा हुआ अक्षय काल हूँ ।

'लोकान्स्वमाहर्तुमिह प्रवृत्त'—अर्जुनन पूछा था कि मैं आपकी प्रवृत्तिको नहीं जान रहा हूँ—'न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम्' अर्थात् आप यहाँ क्या करन आये हैं ? उमके उत्तरमें भगवान् कहते हैं कि मैं इस समय दोनों सेनाओंका सहार करनके लिये ही यहाँ आया हूँ ।

'ऋतेऽपि स्या न भविष्यन्ति सर्वे येऽस्थिता प्रव्यनीकेषु योधाः'—

तुमने पहले यह कहा था कि मैं युद्ध नहीं करूँगा—
 'न योत्स्ये' (२ । ०) तो क्या तुम्हारे युद्ध किये बिना ये प्रतिपक्षी
 नहीं मरेंगे ? अर्थात् तुम्हारे युद्ध करने और न करनेसे कोई फरक
 नहीं पड़ेगा । कारण कि मैं सज्जा सहार करनेके लिय प्रवृत्त हुआ
 हूँ । यह बात तुमने विराटरूपमें भी देख ली है कि तुम्हारे पक्षकी
 और त्रिपक्षकी दोनों सेनाएँ मेरे भयकर मुखोमें प्रविष्ट हो रही हैं ।

अब यहाँ एक शङ्का होती है कि अर्जुनने अपनी और कौरव-
 पक्षकी सेनाके सभी लोगोको भगवान्के मुखोमें जाकर नष्ट होते हुए
 देखा था, तो फिर भगवान्ने यहाँ केवल प्रतिपक्षकी ही बात क्यों
 कही कि तुम्हारे युद्ध किये बिना भी ये प्रतिपक्षी नहीं रहेंगे ?
 इसका तात्पर्य है कि अगर अर्जुन युद्ध करते तो केवल प्रतिपक्षियोको
 ही मारते और युद्ध नहीं करते तो त्रिपक्षियोको नहीं मारते । अब
 भगवान् कहते हैं कि तेरे बिना मारे ही न तो ये प्रतिपक्षी बचेंगे
 और न तुम्हारे पक्षाले ही बचेंगे, क्योंकि मैं कालरूपसे सबको खा
 जाऊँगा । तात्पर्य यह है कि इन सबका सहार तो होनेवाला ही है,
 तू केवल अपने युद्धरूप कर्तव्यका पालन कर ले ।

एक शङ्का यह भी होती है कि यहाँ भगवान् अर्जुनसे कहते
 हैं कि प्रतिपक्षके योद्धाओग तुम्हारे युद्ध किये बिना भी नहीं
 रहेंगे, फिर इस युद्धमें प्रतिपक्षके अश्वत्थामा आदि योद्धा कैसे बच
 गये ? इसका समाधान है कि यहाँ भगवान्ने उन्हीं योद्धाओके
 मरनेकी बात कही है, जिनको अर्जुन मार सकते हैं और जिनको
 अर्जुन आगे मारेगे । अब भगवान्के कथनका तात्पर्य है कि

जिन योद्धाओंको तू मार सकता है, वे ममी तेरे मारे बिना ही मर जायँगे । जिनको तू आगे मारेगा, वे मेरे द्वारा पहलेमे ही मारे हुए हैं—‘मयैवैते निहता पूर्वमेव’ (११ । ३३) ।

सम्यग्—

पूर्व श्लोकमें भगवान्ने कहा था कि तरे मारे बिना भी ये प्रतिपक्षी योद्धा नहीं रहेंगे । ऐसी स्थितिमें अर्जुनको क्या करना चाहिये ? इसके उत्तरमें भगवान् अगले दो श्लोकोंमें ऊर्जुननिमित्तमात्र बनकर युद्ध करनेकी आज्ञा देते हैं ।

श्लोक—

तस्मात्समुत्तिष्ठ यशो लभस्व
जित्वा शत्रुभुङ्क्ष्व राज्य समृद्धम् ।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव
निमित्तमात्र भव सव्यसाचिन् ॥ ३३ ॥

अर्थ—

इसस्थिमें तुम युद्धके लिये तबड़े हो जाओ-और यशको प्राप्त करो तथा शत्रुओंको जीतकर धन धान्यसे सम्पन्न राज्यको भोग्ये सब मेरे द्वारा पहलेमे ही मारे हुए हैं । हे सव्यसाचिन् ! निमित्तमात्र बन जा ।

व्याख्या—

‘तस्मात्समुत्तिष्ठ यशो लभस्व’—हे अर्जुन, तूने
ऐसा ही किया तुम्हारे मारे बिना भी ये शत्रु
तो तू मार कर कलशर युद्धके लिये तबड़ा हो
सकोगे । इसका तात्पर्य है कि

जो होकर ही रहेगा और इसको मेने तेरेको प्रयत्न दिखा भी दिया है। इस रास्ते तू युद्ध करेगा तो तेरेको मुफ्तमें ही यश मिलेगा और लोग भी कहेंगे कि अर्जुनने विजय कर ली।

‘यशो लभस्व’ कहनेका यह अर्थ नहीं है कि यशकी प्राप्ति होनेपर तुम फल जाओ कि ‘वाइ । मेने विजय प्राप्त कर ली’, प्रत्युत तू ऐसा समझ कि जैसे ये प्रतिपक्षी मेरे द्वारा मारे हुए ही मरेंगे, ऐसे ही यश भी जो होनेवाला है, वही होगा। अगर तू यशको अपने पुरुषार्थसे प्राप्त मानकर राजी होगा, तो तू फलमें बँध जायगा—‘फले सक्तो निग्रह्यते’ (गीता ५।१२)। तात्पर्य यह हुआ कि लाभ हानि, यश-अयश सब प्रभुके हाथमें है। इस रास्ते मनुष्य इनके साथ अपना सम्पर्क न जोड़े, क्योंकि ये तो होनहार हैं।

‘जित्वा शत्रून् भुङ्क्ष्व राज्य समृद्धम्’—ममृद्ध राज्यमें दो बातें होती हैं—(१) राज्य निष्कण्ठक हो अर्थात् उसमें बाधा देनेवाला कोई भी शत्रु या प्रतिपक्षी न रहे और (२) राज्य धन-धान्यसे सम्पन्न हो अर्थात् प्रजाके पास तूरा धन-सम्पत्ति हो, हाथी, घोड़े, गाय, जमीन, मकान, जलाशय आदि आवश्यक वस्तुएँ भरपूर हों, प्रजाके खानेके लिये भरपूर अन्न हो। इन दोनों बातोंसे ही राज्यकी समृद्धता, पूर्णता होती है। भगवान् अर्जुनसे कहते हैं कि शत्रुओंको जीतकर तुम ऐसे निष्कण्ठक और धन-धान्यसे सम्पन्न राज्यको भोगो। यहाँ राज्यको भोगनेका अर्थ अनुकूलताका सुख भोगनेमें नहीं है, प्रत्युत यह अर्थ है कि साधारण लोग जिसे भोग मानते हैं, उस राज्यको भी तुम अनायास प्राप्त कर लो।

‘मयैवैते निहता पूर्वमेव —तू मुपनमं हा यश और राज्यको कैसे प्राप्त कर लेगा, इसका हेतु बताते हैं कि यहाँ जिनने भी आये हुए हैं, उन सबकी आयु समाप्त हो चुकी है अर्थात् कालरक्षा मेरे द्वारा ये पहलेसे ही मारे जा चुके हैं ।

‘निमित्तमात्र भव सव्यम्वाचिन्’—दोनों हाथोंसे गण चगनेके कारण अर्थात् दायें ओर बायें—दोनों हाथोंसे गण चगनेके कारण अर्जुनका नाम ‘सव्यसाची’ था* । इस नामसे सम्बोधित करके भगवान् अर्जुनसे यह कहते हैं कि तुम दोनों हाथोंसे गण चगओ अर्थात् युद्धमें अपनी पूरी शक्ति लगाओ, पर बनना है निमित्तमात्र । निमित्तमात्र बननेका तात्पर्य अपने बल, बुद्धि, पराक्रम आदिको कम लगानेमें नहीं है, प्रत्युत इनको सावधानीपूर्वक पूरा-का-पूरा लगाना है । परन्तु मैंने मार दिया, मैंने विजय प्राप्त कर ली—यह अभिमान नहीं करना है, क्योंकि ये सब मेरे द्वारा पहलेसे ही मारे हुए हैं । इस वास्ते नेत्रोंको कैवल्य निमित्तमात्र बनना है, कोई नया काम नहीं करना है ।

निमित्तमात्र बनकर कार्य करनेमें अपनी आत्मे किसी भी अंशमें कोई कमी नहीं रहनी चाहिये, प्रत्युत पूरी शरीर-शक्ति लगाकर सावधानीपूर्वक कार्य करना चाहिये । कार्यकी सिद्धिमें अपने अभिमानका निमित्तमात्र भी अंश नहीं रहना चाहिये । जैसे,

● उभौ मे त्रिभिः शक्तिः शरीरं शक्तिरस्य विद्यमानम् ।

● तेन देवमनुष्येषु मायशास्त्रेण मां विन्दु ॥

(म.श.० विराट्.० ८४ । ११)

भगवान् श्रीकृष्णने गोपर्वत पर्वत उठाया तो उन्होंने ग्यालवालोसे कहा कि तुमलोग भी पर्वतके नीचे अपनी-अपनी लाठियाँ लगाओ । सभी ग्यालवालोंने अपनी लाठियाँ लगायीं और वे ऐसा समझने लगे कि हम सबकी लाठियों लगनेसे ही पर्वत ऊपर ठहरा हुआ है । वास्तवमें पर्वत ठहरा हुआ था भगवान्के बायें हाथकी छोटी अगुलीके नखपर ! ग्यालवालोंमें जय इस तरहका अभिमान हुआ तो भगवान्ने अपनी अगुली थोड़ी सी नीचे कर ली । अगुली नीचे करते ही पर्वत नीचे आने लगा तो ग्यालवात्रोंने पुकारकर भगवान्से कहा—‘अरे दादा ! मरे ! मरे ॥ मरे ॥’ भगवान्ने कहा कि जोरसे शक्ति लगाओ । पर वे सबके-सब एक साथ अपनी पूरी शक्ति लगाकर भी पर्वतको ऊँचा नहीं कर सके । तब भगवान्ने पुन अपनी अगुलीसे पर्वतको ऊँचा कर दिया । ऐसे ही साधकों परमात्मप्राप्तिके लिये अपने बल, बुद्धि, योग्यता आदिको तो पूरा-फ़ा-पूरा लगाना चाहिये, उसमें ऋभी किञ्चिन्मात्र भी कमी नहीं करनी चाहिये, पर परमात्माका अनुभव होनेमें बल, उद्योग, योग्यता, तत्परता, जितेन्द्रियता, परिश्रम आदिको कारण मानकर अभिमान नहीं करना चाहिये । उसे तो केवढ भगवान्की कृपाको ही कारण मानना चाहिये । भगवान्ने भी गीतामें कहा है कि शाश्वत अविनाशी पदकी प्राप्ति मेरी कृपासे होगी—

‘मत्प्रसादाद्वाप्नोति शाश्वतं पदमन्ययम्’ (१८ । ५६), और सम्पूर्ण विनोंको मेरी कृपासे तर जायगा—मच्चित्त सर्वदुर्माणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि’ (१८ । ५८) । इससे यह सिद्ध हुआ कि केवल निमित्तमात्र बननेसे साधकों परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है ।

जब साधक अपना बल मानते हुए साधन करता है तो अपना बल माननेके कारण उसको बार-बार निकलनाका अनुभव होता रहता है और तत्त्वकी प्राप्तिमें देरी लगती है। अगर साधक अपने बन्धक किञ्चिन्मात्र भी अभिमान न करे तो सिद्धि तत्काल हो जाती है। कारण कि परमात्मा तो नित्यप्राप्त हैं ही, केवल अपने पुरुषार्थके अभिमानके कारण ही उनका अनुभव नहीं हो रहा था। इस पुरुषार्थके अभिमानको दूर करनेमें ही 'निमित्तमात्र भव' परोक्ष तात्पर्य है।

कमोमें जो अपने करनेका अभिमान है कि 'मैं करता हूँ तो होता है, अगर मैं नहीं करूँ तो नहीं होगा', यह केवल अज्ञानके कारण ही अपनेमें आरोपित कर रहा है। अगर मनुष्य अभिमान और फलेच्छाका त्याग करके प्राप्त परिस्थितिके अनुसार कर्तव्य-धर्म करनेमें निमित्तमात्र बन जाय, तो उसका उद्धार स्वयःसिद्ध है। कारण कि जो होनेवाला है, वह तो होगा ही, उसको कोई अपनी शक्तिसे रोक नहीं सकता, और जो नहीं होनेवाला है, वह नहीं होगा, उसको कोई अपने प्रयत्नसे बर नहीं सकता। इस पक्षमें सिद्धि-असिद्धिमें सम रहते हुए कर्तव्य कर्माका पालन किया जाय तो मुक्ति स्वयःसिद्ध है। उन्मत्त, नश्वरकी प्राप्ति, शौरसी लग्न येनियोंकी प्राप्ति—य सभी प्रतिमात्र हैं और मुक्ति, व्रतयोग, भावप्राप्ति, मग्नमेव आदि सभी स्वयःसिद्ध हैं।

श्लोक—

द्रोण च भीष्म च जयद्रथ च
 कर्णं तथान्यानपि योधवीरान् ।
 मया हतास्त्व जहि मा व्यथिष्ठा
 युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ॥ ३४ ॥

अर्थ—

द्रोण, भीष्म, जयद्रथ और कर्ण तथा अन्य सभी मेरे द्वारा मारे हुए शूरीरोको तू मार । तू व्यथा मत कर, युद्ध कर । युद्धमें तू वैरियोको जीतेगा ।

व्याख्या—

‘द्रोण च भीष्म च जयद्रथ च कर्णं तथान्यानपि योधवीरान् मया हतास्त्व जहि’—अर्जुनकी दृष्टिमें गुरु द्रोणाचार्य, पितामह भीष्म, जयद्रथ और कर्ण तथा अन्य जितने भी प्रतिपक्षके नामी शूरीर हैं, जिनपर विजय करना बड़ा कठिन काम है, उन सबकी आयु समाप्त हो चुकी है अर्थात् वे सब कालरूप मेरे द्वारा मारे जा चुके हैं । इस रास्ते है अर्जुन ! मेरे द्वारा मारे हुए शूरीरोको तू मार दे ।

भगवान्‌के द्वारा पिछले श्लोकमें ‘मयैवैते निहना पूर्वमेव’ और यहाँ ‘मया हतास्त्व जहि’ कहनेका तात्पर्य यह कि तू इन्‌पर

भीष्म, द्रोण और कर्ण अपनी शूरीरताके ससारमें प्रसिद्ध थे, इस वास्ते इनको जीतनेमें कठिनता थी । जयद्रथ तो ऐसा छोड़ नामी शूरीर था नहीं, पर उसको एक वरदान था कि ‘तुम्हारा सिर फोड़ पृथ्वीपर गिरा देगा तो उस (सिर गिरानेवाले) के सिरके सौ टुकड़े हो जायेंगे । इस वरदानके कारण जयद्रथने मारनेमें कठिनता थी ।

विजय कर, पर विजयमें अपना अभिमान मत रख कि मैंने विजय की है, क्योंकि ये सब-के-सब मेरे द्वारा पड़छेसे ही मारे हुए हैं ।

‘मा व्यथिष्ठा युध्यस्व’—अर्जुन पितामह भीष्म और गुरु द्रोणाचार्यको मारनेमें पाप समझते थे, यही अर्जुनके मनमें व्यथा थी । इस वास्ते भगवान् कह रहे हैं कि वह व्यथा भी तुम मत करो अर्थात् भीष्म, और द्रोण (आदि) को मारनेसे हिंसा आदि दोषोंका विचार करनेकी तैरेकी किञ्चिन्मात्र भा अपश्यक्ता नहीं है । तुम अपने क्षात्रधर्मका अनुष्ठान करो अर्थात् युद्ध करो । इसका त्याग मत करो ।

‘जेतास्त्रि ग्णे सपन्नान्’—इस युद्धमें नू धैरियोंको जीतेगा । ऐसा कहनेका तात्पर्य है कि पहले (गीता २ । ६ में) अर्जुनने कहा था कि हम उनको जीतेंगे या वे हमको जीतेंगे—इसका हमको पता नहीं । इस प्रकार अर्जुनके मनमें सन्देह था । यहाँ ग्यारहवें अध्यायके आरम्भमें भगवान्ने अर्जुनको विश्वरूप देखानेकी आज्ञा दी, तो उसमें भगवान्ने कहा कि तू और भी जो कुछ देखना चाहे, वह देख ले (११ । ७) अर्थात् किमकी जय होगी और किमकी पराजय होगी—यह भी तू देख ले । फिर भगवान्ने त्रिगुणधर्मके अर्थात् मोक्ष, दोग और कर्णिक ताक्षरी गान दिया ही और इस श्लोकमें यह बात स्पष्टरूपसे कहा ही कि युद्धमें तेरे विजय होगी ।

विशेष बात

मनुष्यको अपने मनुष्यमें बदलनेमें नशवान् पराधीन, व्यक्तियोंका जो आकर्षण होता है, उसमें वह घबरा जाता है कि

मेरा उद्योग कुछ भी काम नहीं कर रहा है, अतः यह आकर्षण कैसे मिटे। भगवान् 'मयैत्रैते निहता पूर्यमेव' और 'मया हतास्त्व जहि' पदोंसे ढाढस बँगाते हुए मानो यह आश्वासन देते हैं कि तुम्हारेको अपने साधनमें जो वस्तुओं आदि का आकर्षण दिखायी देता है, और वृत्तियाँ खराब होनी हुईं दीवनी हैं, ये सब-के-सब विघ्न नाशमान् हैं और मेरे द्वारा मारे हुए हैं। इस वास्ते सायक इनको महत्त्व न दे।

'दुर्गुण दुराचार दूर नहीं हो रहे हैं, क्या करूँ'—ऐसी चिन्ता होनेमें तो सायक का अभिमान ही कारण है और 'ये दूर होने चाहिये और जल्दी होने चाहिये'—इसमें भगवान् के विश्वास-की, भरोसे-की, आश्रय-की कमी है। दुर्गुण-दुराचार अच्छे नहीं लगते, सुहाते नहीं, इन्में दोष नहीं है। दोष है चिन्ता करनेमें। इस वास्ते सायक को कभी चिन्ता नहा करनी चाहिये।

'मेरे द्वारा मारे हुएको न मार'—इस कथनसे यह शक होनी है कि कालखंड भगवान् के द्वारा सब-के-सब मारे हुए हैं तो ससारमें कोई किसीको मारता है तो वह भगवान् के द्वारा मारे हुएको ही मारता है। अतः मारनेवालेको पाप नहीं लगना चाहिये। इसका समाधान यह है कि किसीको मारने का या दुःख देने का अपि कार मनुष्यको नहीं है। उसको तो सबकी सेवा करने का, सबको सुख पहुँचाने का ही अपि कार है। अगर मारने का अपि कार मनुष्यको होता तो विधि निषेध अर्थात् शुभ काम करो, अशुभ मत करो—ऐसा शास्त्रों का, गुणजनों, मन्तों का कहना ही व्यर्थ हो जायगा।

वह त्रिपि निपेय किसपर लागू होगा ? इस वास्ते मनुष्य किमीको मारता है या दुःख देता है तो उसको पाप लगेगा ही, क्योंकि यह उसको राग द्वेषपूर्वक अनधिकार-चेष्टा है । परंतु क्षत्रियके निये शास्त्रनिहित युद्ध प्राप्त हो जाय, तो स्वार्थ और अहकारका त्याग करके कर्तव्य-पालन करनेसे पाप नहीं लगना, क्योंकि यह क्षत्रियका स्वधर्म है ।

अब इसपर विचार करना है कि अगर भगवान् ने जो पहलेसे ही रच रखा है, उमीको मनुष्य करेगा, तो फिर इस मनुष्य-जन्म की निशयता ही क्या रही ? मनुष्यमें और पशु-पक्षी आदिम अन्तर ही क्या रहा ? इसका समाधान यह है कि मनुष्यशरीरमें दो बातें हैं—पुराने कर्मोंका फलभोग और नया पुरुषार्थ । दृग्गी योनियोंमें केवल पुराने कर्मोंका फलभोग है अर्थात् कीट-पतंग, पशु-पक्षी, देवता, महालोकतन्त्रकी योनियां भोग-योनियां हैं । इस वास्ते उनके निये 'ऐसा करो और ऐसा मत करो'—यह विधान भी नहीं है । पशु-पक्षी, कीट-पतंग आदि जो कुछ करते हैं, उनका वह कर्म भा फलभोगमें है । कारण कि उनके द्वारा किया जन्मानुसंग कर्म उनके प्रारम्भके अनुसार पहलेसे ही रचा हुआ है । उनके जीवाणों अतृकृत प्रतिकूल परिस्थितिका जो कुछ भोग होता है, वह भोग भी पञ्च-भोगोंमें ही है । परन्तु मनुष्यशरीर तो केवल नये पुरुषार्थके निये ही बना है, जिसमें यह अन्त उदार का ले ।

इस मनुष्यशरीरमें दो विभाग हैं—एक तो इसके सामान्य पुराने कर्मोंके फलभोगमें अनुकूल प्रतिकूल परिस्थिति आती है, और दूसरा

यह नया पुरुषार्थ (नये कर्म) करता है । नये कर्मोंके अनुसार ही इसके भविष्यका निर्माण होता है । इस वास्ते शास्त्र, सन्त-महापुरुषोंका विमि-निषेध, राज्य आदिका शासन केवल मनुष्योंके लिये ही होता है, क्योंकि मनुष्यमें पुरुषार्थकी प्रगनता है, नये कर्मोंको करनेकी स्वतन्त्रता है । परंतु पिछले कर्मोंके फलस्वरूप मिलनेवाली अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितिको बदलनेमें यह पातन्त्र है । तात्पर्य है कि मनुष्य करनेमें स्वतन्त्र और फल-प्राप्तिमें पातन्त्र है । परन्तु अनुकूल-प्रतिकूलरूपसे प्राप्त परिस्थितिका सदुपयोग करके मनुष्य उसको अपने उद्धारकी साधन-सामग्री बना सकता है । यह मनुष्यशरीर अपने उद्धारके लिये ही मिला है । इस वास्ते इसमें नया पुरुषार्थ भी उद्धारके लिये है और पुराने कर्मोंके फलरूपसे प्राप्त परिस्थिति भी उद्धारके लिये ही है ।

इसमें एक विशेष समझनेकी बात है कि इस मनुष्य-जीवनमें प्रारम्भके अनुसार जो भी शुभ या अशुभ परिस्थिति आती है, उस परिस्थितिको मनुष्य सुखदायी या दुःखदायी तो मान सकता है, पर वास्तवमें देखा जाय तो उस परिस्थितिसे सुखी या दुःखी होना कर्मोंका फल नहीं है, प्रयुक्त मूर्खताका फल है । कारण कि परिस्थिति तो बाहरसे बनती है, और सुखी दुःखी होता है यह स्वयं । उस परिस्थितिके साथ तादात्म्य करके ही यह सुख-दुःखका भोक्ता बनता है । अगर मनुष्य उस परिस्थितिके साथ तादात्म्य न करके उसका सदुपयोग करे, तो वही परिस्थिति उद्धार करनेके लिये साधन-सामग्री बन जायगी । सुखदायी परिस्थितिका

नाम 'किरीटी' पड़ गया * । यहाँ 'किरीटी' कहनेका तात्पर्य है कि जिन्होंने बड़े-बड़े राक्षसोंको मारकर इन्द्रकी सहायता की थी, वे अर्जुन भी भगवान्‌के विराट्‌रूपको देखकर कम्पित हो रहे हैं ।

'नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्ण सगद्गद भीतभीत' प्रणम्य'—काल सत्रका भक्षण करता है, किसीको भी छोड़ता नहीं । कारण कि यह भगवान्‌की सहायशक्ति है, जो हरदम सहाय करती ही रहती है । इधर अर्जुनने जब भगवान्‌के अयुध विराट्‌रूपको देखा तो उनके लगा कि भगवान् कालके भी काल—महाकाल हैं । उनके सिवाय दूसरा कोई भी कालसे बचानेवाला नहीं है । इस वास्ते अर्जुन भयभीत होकर भगवान्‌को बार-बार प्रणाम करते हैं ।

'भूय' कहनेका तात्पर्य है कि पहले पदहवसे इकतीसवें श्लोकतक अर्जुनने भगवान्‌की स्तुति और नमस्कार किया, अब फिर भगवान्‌की स्तुति और नमस्कार करते हैं ।

हर्षसे भी बाणी गद्गद होनी है और भयसे भी । यहाँ भयका नियम है । अगर अर्जुन बहुत ज्यादा भयभीत होने लगे तो वे बोल ही न सकते । परन्तु अर्जुन गद्गद बाणीमें बोलते हैं । इसमें निश्चय होता है कि वे इतने भयभीत नहीं हैं ।

सम्बन्ध—

अब अगले श्लोकमें अर्जुन भगवान्‌को स्तुति करना आरम्भ करते हैं ।

* पुराणोंमें १० दत्त गुप्ताका दानकीर्त्तिका ।

किरीट मूर्ध्नि सूर्याय तेनाद्रुमो म्बिटाटिर ॥

(महा० विराट्० ४८ । १७)

श्लोक—

अर्जुन उवाच

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या

जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च ।

रक्षासि भीतानि दिशो द्रवन्ति

सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसद्वा ॥ ३६ ॥

अर्थ—

अर्जुन बोले—हे अन्तर्यामी भगवन् ! आपके नाम, गुण, लीला-का कीर्तन करनेसे यह सम्पूर्ण जगत् हर्षित हो रहा है और अनुराग- (प्रेम-) को प्राप्त हो रहा है । आपके नाम, गुण आदिके कीर्तनसे भयभीत होकर राक्षसलोग दसों दिशाओंमें भागते हुए जा रहे हैं और सम्पूर्ण सिद्धगण आपको नमस्कार कर रहे हैं । यह सब होना उचित ही है ।

व्याख्या—

[ससारमें यह देखा जाता है कि जो व्यक्ति अत्यन्त भयभीत हो जाता है, उससे बोला नहीं जाता । अर्जुन भगवान्‌का अत्युग्र रूप देखकर अत्यन्त भयभीत हो गये थे । फिर उन्होंने इस (छतीसवें) श्लोकसे लेकर छिपालीसवें श्लोकतक भगवान्‌की स्तुति कैसे की । इसका समाधान यह है कि यद्यपि अर्जुन भगवान्‌के अत्यन्त उग्र (भयानक) निद्ररूपको देखकर भयभीत हो रहे थे, तथापि वे भयभीत होनेके साथ-साथ हर्षित भी हो रहे थे, जैसा कि अर्जुनने आगे कहा है— 'अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथित मनो मे' (११ । ४७) । इससे यह सिद्ध होता है कि अर्जुन इतने भयभीत नहीं हुए थे, जिससे कि वे भगवान्‌की स्तुति भी न कर पाते ।]

‘हृषीकेश’—इन्द्रियोंका नाम ‘हृषीक’ है, और उनके ‘ईश’ अर्थात् मालिक भगवान् हैं। इस वास्ते यहाँ इस सम्बोधनका तात्पर्य है कि आप सबके हृदयमें निराजमान रहकर इन्द्रियों, अन्त करण आदिको सत्ता-स्फूर्ति देने गले हैं।

‘तव प्रकीर्त्या जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च’—ससारसे विदुत् होकर आपको प्रसन्न करनेके लिये आपके नामोंका, गुणोंका कीर्तन करते हैं, आपकी लीलाके पद गाते हैं, आपके चरित्रोंका कथन और श्रवण करते हैं, तो इससे सम्पूर्ण जगत् हर्षित होता है। तात्पर्य यह है कि ससारकी तरफ चलनेसे तो सबको जलन होती है, परस्पर राग द्वेष पैदा होते हैं, पर जो आपके सम्मुख होकर आपका भज-कीर्तन करते हैं, उनके द्वारा मात्र जीवोंको शांति मिलती है, मात्र जीव प्रसन्न हो जाते हैं। उन जीवोंको पता लगे चाहे न लगे, पर ऐसा होता है।

जैसे भगवान् अवतार लेने हैं तो सम्पूर्ण स्याम-जन्म, जड़-चेतन जगत् हर्षित हो जाता है अर्थात् वृक्ष, प्लवा आदि स्याम, देवता, मनुष्य, गरुड, मुनि, किन्नर, गन्धर्व, पक्ष, पक्षी आदि जन्म, नदी, मत्स्य आदि जड़—सब-के-सब प्रसन्न हो जाते हैं। ऐसे ही भगवान्के नाम, लीला, गुण आदिके कीर्तनात् सर्वत्र अन्तः पडना है और सभी हर्षित होते हैं।

‘रक्षासि भीमानि दिवो इवग्नि’—अग्नि राक्षस है, भूत, दैत्य, रिशाच हैं, वे सर्व-के-सब आरके नामों और गुणोंका कीर्तन

करनेसे, आपके चरित्रोंका पठन-ऋधन करनेसे भयभीत होकर भाग जाते हैं ।*

राक्षस, भूत, प्रेत आदिके भयभीत होकर भाग जानेमें भगवान्-के नाम, गुण आदि कारण नहीं हैं, प्रत्युत उनके अपने खुदके पाप ही कारण हैं । अपने पापोंके कारण ही वे पत्रिमें महान् पवित्र और मङ्गलोंमें महान् मङ्गलस्वरूप भगवान्के गुणगानको सह नहीं सकते, और जहाँ गुणगान होता है, वहाँ वे टिक नहीं सकते । अगर उनमेंसे कोई टिक जाता है तो उनका सुधार हो जाता है । उसकी वह दुष्ट योनि छूट जाती है और उसका कल्याण हो जाता है ।

‘सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसङ्घा’—सिद्धोंके, सन्त-महात्माओंके और भगवान्की तरफ चलनेवाले साधकोंके जितने समुदाय हैं, वे सब-के-सब आपके नामो और गुणोंके कीर्तनको तथा आपकी लीलाओंको सुनकर आपको नमस्कार करते हैं ।

यह ध्यान रहे कि यह सब-का-सब दृश्य भगवान्के नित्य, दिव्य, अलौकिक निराट्-रूपमें ही है । उसीमें एक एकसे विचित्र लीलाएँ हो रही हैं ।

* न यत्र श्रवणादीनि रक्षोघ्नानि स्वकर्मसु ।

कुर्वन्ति सात्वता भर्तुर्यातुधान्यश्च तत्र हि ॥

(श्रीमद्भा० १० । ६ । ३)

‘जहाँके लोग अपने प्रतिदिनके कामोंमें राक्षसोंके भयको दूर भगानेवाले भगवान्के नाम, गुण, लीलाके श्रवण, कीर्तन आदि नहीं करते, वहीं ऐसी राक्षसियोंका बल चलता है ।’

‘स्थाने’—यह सत्र यथोचित ही है और ऐसा ही होना चाडिये तथा ऐसा ही हो रहा है। कारण कि आपकी तन्म चलनेसे शान्ति, आनन्द, प्रसन्नता होती है, विघ्नोका नाश होता है, और आपसे विमुख होनेपर दु ख-ही-दु.ख, अशान्ति-ही-अशान्ति होती है। तापर्य है कि आपका अश वह जीव आपके सम्मुख होनेसे सुख पाता है, उसमें शान्ति, क्षमा, नम्रता आदि गुण प्रकट हो जाते हैं और आपके विमुख होनेसे दु ख पाता है—यह सत्र उचित ही है।

यह जीवात्मा परमात्मा और ससारके बीचका है। यह स्वरूपसे तो साक्षात् परमात्माका अश है और प्रकृतिके अशको इसने पकड़ा है। अब यह ज्यों-ज्यों प्रकृतिकी तरफ झुकता है, त्यों-ही-त्यों इसमें सप्रह और भोगोंकी इच्छा बढ़ती है। सप्रह और भोगोंकी प्राप्तिके लिये यह ज्यों-ज्यों उद्योग करता है, त्यों ही-त्यों इसमें अभय, अशान्ति, दु ख, जलन, सन्तप आदि बढ़ने चक्रे जाने हैं। परन्तु सत्तरसे विमुख होकर यह जीवात्मा ज्यों-त्यों भगवाणके सम्मुख होता है, त्यों-ही-त्यों यह अनन्दित होता है और इसका दु ग मित्रा चत्र जाता है। इमी भागने इस श्लोकमें कहा गया है।

सम्पद्य—

पूर्य-लोकने ‘स्थान’ परसे जो ओचित पाता है, उसी जगते श्लोकमें पाए करते हैं।

श्लोक—

यन्नाथ ते न ममेरन्महामन्	
गरुडिसे	ग्रहणोऽप्यतिशयै ।
भनन्त देवेन	जातिपान
स्वयंशर	सदस्वयं यत् ॥ २७ ॥

अर्थ—

हे महात्मन् ! गुरुओंके भी गुरु और ब्रह्माके भी आदिकर्ता आपके लिये (वे सिद्धगण) नमस्कार क्यों नहीं करें ? क्योंकि हे अनन्त ! हे देवेश ! हे जगन्निवास ! आप अक्षरस्वरूप हैं, आप सत् भी हैं, असत् भी हैं और सत्-असत्से पर भी जो कुछ है, वह भी आप ही हैं ।

व्याख्या—

‘कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन् गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे’— आदिरूपसे प्रकट होनेवाले महान् स्वरूप आपको (पूर्वोक्त सिद्धगण) नमस्कार क्यों न करें ? नमस्कार दोको किया जाता है—(१) जिनसे मनुष्यको शिक्षा मिलती है, प्रकाश मिलता है, ऐसे आचार्य, गुरुजन आदिको नमस्कार किया जाता है, और (२) जिनसे हमारा जन्म हुआ है, उन माता पिताको तथा आयु, विद्या आदियें अपनेसे बड़े पुरुषोंको नमस्कार किया जाता है । अर्जुन कहते हैं कि आप गुरुओंके भी गुरु हैं—‘गरीयसे’*और आप सृष्टिकी रचना करनेवाले पितामह ब्रह्माजीको भी उत्पन्न करनेवाले हैं—‘ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे’ । अतः सिद्ध महापुरुष आपको नमस्कार करें, यह तो उचित ही है ।

‘अनन्त’—आपको देश, काल, वस्तु, व्यक्ति आदि किसी भी तरहसे देखें, आपका अन्त नहीं आता । तात्पर्य है कि आपको देशकी

* पतञ्जलि महाराजने कहा है कि वे परमात्मा पहले ते-पहले जो ब्रह्मा आदि प्रकट हुए हैं, उनके भी गुरु हैं— पूर्वोक्तमपि रूच (योग-दर्शन १।२६) ।

दृष्टिसे देखें तो आपका कहौंसे आरम्भ हुआ है और कहाँ जाय, अन्त होगा—ऐसा ही ही नहीं । कायकी दृष्टिसे देखा जाय तो आप कायसे हैं और कबतक रहेंगे—इसका कोई अन्त नहीं है । वस्तु, व्यक्ति आदिकी दृष्टिसे देखें तो आप वस्तु, व्यक्ति आदि कितने रूपोंमें हैं—इसका कोई आदि और अन्त नहीं है । सब दृष्टियोंसे आप अनन्त ही-अनन्त हैं । बुद्धि आदि कोई भी दृष्टि आपको देखने जाती है तो यह दृष्टि रात्म हो जाती है, पर आपका अन्त नहीं आना । इस वास्ते सब तरफसे आप सीमारहित हैं, अपार हैं, अगाध हैं ।

‘देवेश’—इन्द्र, वरुण आदि अनेक देवता हैं, जिनका शास्त्रोंमें वर्णन आता है । इनके अतिरिक्त भी बहुत-से ऐसे देवता हैं, जिनका अमीनक ऋषियों-मुनियोंको ज्ञान नहीं हुआ है और शास्त्रोंमें भी वर्णन नहीं हुआ है । ऐसे सब ज्ञान और अज्ञान देवताओंके अप मायिक हैं, निष्णा हैं, शासक हैं । इस वास्ते अप ‘देवेश’ हैं ।

‘जगन्नियाम’—अनन्त सृष्टियों आपके किस्मि अशमें विरह-रूपसे निवान कर रही हैं, तो भी आपका यह अश पूरा नहीं होता, प्रयुक्त रात्री रहता है । ऐसे आप असीम ‘जगन्नियाम’ हैं ।

‘स्वमभर मद्मत्तपर यत्’—यप अक्षय्यरूप हैं । जिनकी मात्र त्रिद्व स्वतन्त्र सत्ता है, यह ‘सत्ता’ भी अप है, और जिनकी

० आठवें अध्यायके आरम्भमें अत्रुासे द्वारा यह उद्घोष—देवा

पूतेश्वर भगवते उवाच दिवा—‘अथा जग परमना (८ । ३) । उगे
वाचर अक्षय्य अत्रुने पदने स्वमभर परम देव मन्त्र (११ । १८)
वाचि और दर्श ‘मन्त्र’ परोमे कहा है ।

स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, प्रत्युत सत्के आश्रित ही जिसकी सत्ता प्रतीत होती है, वह 'असत्' भी आप ही हैं । जो सत् और असत्—दोनोंसे विलक्षण है, जिसका किसी तरहसे निर्वचन नहीं हो सकता, मन-बुद्धि इन्द्रियाँ आदि किसीसे भी जिसकी कल्पना नहीं कर सकते अर्थात् जो सम्पूर्ण कल्पनाओंसे सर्वथा अतीत हैं, वह भी आप ही हैं ।

तात्पर्य यह हुआ कि आपसे बढ़कर दूसरा कोई हे नहीं, हो सकता नहीं और होना सम्भव भी नहीं—ऐसे आपको नमस्कार करना उचित ही है ।

श्लोक—

त्वमादिदेव पुरुष पुराण-
स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
वेत्तासि वेद्यं च पर च धाम
त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥ ३८ ॥

अर्थ—

आप ही आदिदेव और पुराणपुरुष हैं तथा आप ही इस ससारके परम आश्रय हैं । आप ही सबको जाननेवाले, जाननेयोग्य और परमधाम हैं । हे अनन्तरूप ! आपसे ही सम्पूर्ण ससार व्याप्त है ।

व्याख्या—

'त्वमादिदेव पुरुष पुराण'—आप सम्पूर्ण देवताओंके आदिदेव हैं, क्योंकि सबसे पहले आप ही प्रकट होते हैं । आप पुराणपुरुष हैं, क्योंकि आप सदासे हैं और सदा ही रहनेवाले हैं ।

दृष्टिसे देखें तो आपका कहाँसे आरम्भ हुआ है और कहाँ जाकर अन्त होगा—ऐसा है ही नहीं। काठकी दृष्टिसे देखा जय तो आप कबसे हैं और कबतक रहेंगे—इसका कोई अन्त नहीं है। वस्तु, व्यक्ति आदिकी दृष्टिसे देखें तो आप वस्तु, व्यक्ति आदि कितने रूपोंमें हैं—इसका कोई आदि और अन्त नहीं है। सब दृष्टियोंसे आप अनन्त ही-अनन्त हैं। बुद्धि आदि कोई भी दृष्टि आपको देखने जाती है तो वह दृष्टि राग हो जाती है, पर आपका अन्त नहीं आता। इस वास्ते सब तरफसे आप सीमारहित हैं, अपार हैं, अगाध हैं।

‘देवेश’—इन्द्र, धरुण आदि अनेक देवता हैं, जिनका शास्त्रोंमें वर्णन आता है। इनके अतिरिक्त भी बहुत-से ऐसे देवता हैं, जिनका अभीनक ऋषियों-मुनियोंको ज्ञान नहीं हुआ है और शास्त्रोंमें भी वर्णन नहीं हुआ है। ऐसे सब ज्ञात और अज्ञात देवताओंके आप मास्त्रिक हैं, निष्कन्ता हैं, शासक हैं। इस वास्ते आप ‘देवेश’ हैं।

‘जगन्निवास’—अनन्त सृष्टियों आपके किसी अंशमें विस्तृत-रूपसे निवास कर रही हैं, तो भी आपका वह अंश पूरा नहीं होता, प्रयुक्त गाली रहता है। ऐसे आप असीम ‘जगन्निवास’ हैं।

‘स्वमक्षर सदसत्त्वर यत्’—आप अक्षरस्वरूप हैं*। जिसकी स्वतः सिद्ध स्वतन्त्र सत्ता है, वह ‘सत्’ भी आप है, और जिसकी

* आठवें अध्यायके आरम्भमें अर्जुनके द्वारा ‘किं तद्ब्रह्म’—ऐसा

पूछनेपर भगवान्ने उत्तर दिया—‘अक्षर ब्रह्म परमम्’ (८ । ३)। उची अक्षर ब्रह्मको अर्जुनो पहले स्वमक्षर परम ब्रह्मिष्ठायम् (११ । १८) पदोंके और यहाँ ‘परमक्षर’ पदोंसे कहा है।

स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, प्रत्युत सत्के आश्रित ही जिसकी सत्ता प्रतीत होती है, वह 'असत्' भी आप ही हैं। जो सत् और असत्—दोनोंसे विलक्षण है, जिसका किसी तरहसे निर्वचन नहीं हो सकता, मन-बुद्धि-इन्द्रियाँ आदि किसीसे भी जिसकी कल्पना नहीं कर सकते अर्थात् जो सम्पूर्ण कल्पनाओंसे सर्वथा अतीत हैं, वह भी आप ही हैं।

तात्पर्य यह हुआ कि आपसे बढ़कर दूसरा कोई हे नहीं, हो सकता नहीं और होना सम्भव भी नहीं—ऐसे आपको नमस्कार करना उचित ही है।

श्लोक—

त्वमादिदेव पुरुष पुराण-
स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
वेत्तासि वेद्य च पर च धाम
त्वया तत विश्वमनन्तरूप ॥ ३८ ॥

अर्थ—

आप ही आदिदेव और पुराणपुरुष हैं तथा आप ही इस ससारके परम आश्रय हैं। आप ही सबको जाननेवाले, जाननेयोग्य और परमधाम हैं। हे अनन्तरूप ! आपसे ही सम्पूर्ण ससार व्याप्त है।

व्याख्या—

‘त्वमादिदेवः पुरुष पुराण’—आप सम्पूर्ण देवताओंके आदिदेव हैं, क्योंकि सबसे पहले आप ही प्रकट होते हैं। आप पुराणपुरुष हैं, क्योंकि आप सदासे हैं और सदा ही रहनेवाले हैं।

दृष्टिसे देखें तो आपका कहाँसे आरम्भ हुआ है और कहाँ जानर अन्त होगा—ऐसा है ही नहीं। काठकी दृष्टिसे देखा जय तो आप कबसे हैं और कबतक रहेंगे—इसका कोई अन्त नहीं है। वस्तु, व्यक्ति आदिकी दृष्टिसे देखें तो आप वस्तु, व्यक्ति आदि विज्ञाने रूपोंमें हैं—इसका कोई आदि और अन्त नहीं है। सब दृष्टियोंसे आप अनन्त-ही-अनन्त हैं। बुद्धि आदि कोई भी दृष्टि आपको देखने जाती है तो वह दृष्टि खत्म हो जाती है, पर आपका अन्त नहीं आता। इस वास्ते सब तरफसे आप सीमारहित हैं, अपार हैं, अगाध हैं।

‘देवेश’—इन्द्र, गरुण आदि अनेक देवता हैं, जिनका शास्त्रोंमें वर्णन आता है। इनके अतिरिक्त भी बहुत-से ऐसे देवता हैं, जिनका अभीतक ऋषियों-मुनियोंको ज्ञान नहीं हुआ है और शास्त्रोंमें भी वर्णन नहीं हुआ है। ऐसे सब ज्ञात और अज्ञान देवताओंके आप मास्त्रिक हैं, निष्पन्ता हैं, शासक हैं। इस वास्ते आप ‘देवेश’ हैं।

‘जगन्निवास’—अनन्त सृष्टियों आपके किसी अंशमें विस्तृत-रूपसे निवास कर रही हैं, तो भी आपका वह अंश पूरा नहीं होता, प्रत्युत खाली रहता है। ऐसे आप अभीतक ‘जगन्निवास’ हैं।

‘त्वमक्षर सदसत्तत्पर यत्’—आप अक्षरस्वरूप हैं*। जिसकी स्वतः सिद्ध स्वतन्त्र सत्ता है, वह ‘सत्’ भी आप है, और जिनकी

* जाठवें अध्यायके आरम्भमें अर्जुनके द्वारा ‘किं तद्ब्रह्म’—ऐसा पूछनेपर भगवान्ने उत्तर दिया—‘अपरं ब्रह्म परमम’ (८ । ३)। उसी अक्षर ब्रह्मको अर्जुनने पहले ‘त्वमक्षर परम वेदितव्यम्’ (११ । १८) पदमें और यहाँ ‘परमेश्वर’ पदमें कहा है।

खतन्त्र सत्ता नहीं है, प्रत्युत सत्के आश्रित ही जिसकी सत्ता प्रतीत होती है, वह 'असत्' भी आप ही हैं। जो सत् और असत्—दोनोंसे मिलशुभ्र है, जिसका किसी तरहसे निर्वचन नहीं हो सनता, मन-बुद्धि-इन्द्रियाँ आदि किसीसे भी जिसकी कल्पना नहीं कर सकते अर्थात् जो सम्पूर्ण कल्पनाओंसे सर्वथा अतीत हैं, वह भी आप ही हैं।

तात्पर्य यह हुआ कि आपसे बढ़कर दूसरा कोई है नहीं, हो सकता नहीं और होना सम्भव भी नहीं—ऐसे आपको नमस्कार करना उचित ही है।

श्लोक—

त्वमादिदेव पुरुष पुराण-
स्त्वमस्य विश्वस्य पर निधानम् ।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम
त्वया तत विश्वमनन्तरूप ॥ ३८ ॥
अर्थ—

आप ही आदिदेव और पुराणपुरुष हैं तथा आप ही इस ससारके परम आश्रय हैं। आप ही सबको जाननेवाले, जाननेयोग्य और परमधाम हैं। हे अनन्तरूप ! आपसे ही सम्पूर्ण ससार व्याप्त है।

व्याख्या—

'त्वमादिदेव पुरुष पुराण'—आप सम्पूर्ण देवताओंके आदिदेव हैं, क्योंकि समसे पहले आप ही प्रकट होते हैं। आप पुराणपुरुष हैं, क्योंकि आप सदासे हैं और सदा ही रहनेवाले हैं।

हैं, वे सब-के-सब आप ही हैं। आप अनन्तरूप हैं। आपकी मैं क्या स्तुति करूँ ? क्या महिमा गाऊँ ? मैं तो आपको हजारों बार नमस्कार ही कर सकता हूँ। मैं और कर ही क्या सकता हूँ ?

कुछ भी करनेकी जिम्मेदारी मनुष्यपर तभीतक रहती है, जबतक अपनेमें करनेका 'बल' अर्थात् अभिमान रहता है। जब अपनेमें कुछ भी करनेकी 'सामर्थ्य' नहीं रहती तो उसपर करनेकी जिम्मेदारी त्रिकुल नहीं रहती। अब वह केवल नमस्कार ही करता है अर्थात् अपने-आपको सर्वथा भगवान्के समर्पित कर देता है। फिर करने-करानेका सब काम शरण्य- (भगवान्-) का ही रहता है, शरणागतका नहीं।

श्लोक—

नम पुरस्ताद्य पृष्ठतस्ने

नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।

अनन्तवीर्यामितत्रिकमस्त्व

सर्व समाप्नोषि ततोऽसि सर्व ॥४०॥

अर्थ—

हे सर्व ! आपको आगेसे नमस्कार हो ! पीछेसे नमस्कार हो ! सब ओरसे ही नमस्कार हो ! हे अनन्तवीर्य ! अमित त्रिकमशाले आपने सबको समाहित कर रखा है, इस घाम्से सब कुछ आप ही हैं।

ध्यातव्या—

'नम पुरस्ताद्य पृष्ठतस्ने नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व'—
जड़ुन, भयभीत हैं। मैं क्या बोडूँ—यद् उनके हृदयमें नहीं आ

रहा है। इस वास्ते वे आगेसे, पीछेसे, सत्र ओरसे अर्थात् दसो दिशाओ-से केवल नमस्कार-ही-नमस्कार का रहे हैं ।

। 'अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्रम्'—'अनन्तवीर्य' कहनेका तात्पर्य है कि आप तेज, बल आदिसे भी अनन्त हैं, और 'अमितविक्रम' कहनेका तात्पर्य है कि आपके पराक्रमयुक्त सरक्षण आदि कार्य भी असीम हैं । इस तरह आपकी शक्ति भी अनन्त है और पराक्रम भी अनन्त है ।

'सर्वं समानोपि ततोऽसि सर्वं'—आपने सत्रको समावृत्त कर रखा है अर्थात् सम्पूर्ण ससार आपके अतर्गत है । ससारका कोई भी अंश ऐसा नहीं है, जो कि आपके अतर्गत न हो ।

अर्जुन एक बड़ी अलौकिक, मिलक्षण बात देख रहे हैं कि भगवान् अनन्त सृष्टियोमें परिपूर्ण, व्याप्त हो रहे हैं और अनन्त सृष्टियाँ भगवान्के किसी अंशमें हैं !

सम्बन्ध--

अब अगले दो श्लोकोंमें अर्जुन भगवान्से प्रार्थना करके क्षमा माँगतें हैं ।

श्लोक—

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्त
 हे कृष्ण हे यादव हे सखेति ।
 अजानता महिमान तवेद्
 मया प्रमादात्प्रणयेन चापि ॥ ४१ ॥

यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि

विहारशय्यासनभोजनेषु

एकोऽथवाप्यच्युत तत्समश्च

तत्क्षामये

त्वामहमप्रमेयम् ॥ ४२ ॥

अर्थ—

आपकी महिमा और स्वरूपको न जानते हुए 'मेरे सखा हैं' ऐसा मानकर मैंने प्रमादसे अथवा प्रेमसे (बिना सोचे-समझे) 'हे कृष्ण ! हे यादव ! हे सखे !' इस प्रकार जो कुछ कहा है और हे अच्युत ! हँसी-दिल्लीमें, चलते-फिरते, सोते-जागते, उठते-बैठते, खाते-पीते समयमें अकेले अथवा उन सखाओं, कुटुम्बियों आदिके सामने मेरे द्वारा आपका जो कुछ तिरस्कार किया गया है, वह सब अप्रमेयस्वरूप आपसे मैं क्षमा करता हूँ ।

व्याख्या—

[जय अर्जुन निराड् भगवान्के अयुक्त रूपको देखकर भयभीत होते हैं तो भगवान्के कृष्ण रूपको भूल जाते हैं और पूछ बैठते हैं कि उपरूपवाले आप कौन हैं ? परन्तु जय उनको माथान् कृष्णकी स्मृति आती है कि वे ये ही हैं, तो भगवान्के प्रभाव आदिको देखकर उनको सखाभावसे किये हुए पुराने व्यवहारकी याद आ जाती है और उसके लिये वे भगवान्से क्षमा माँगते हैं ।]

'सखेति मत्या प्रसभ यदुक्त हे कृष्ण हे यादव हे मनेनि—

जो बड़े आदमी होते हैं, श्रेष्ठ पुरुष होते हैं, उनको माथात् नामसे नहीं पुकारा जाता । उनके लिये तो 'अप', 'महाराज' आदि शब्दोंका प्रयोग होता है । पर तु मैंने आपको कभी 'हे कृष्ण' कहा दिया, कभी 'हे यादव' कहा दिया और कभी 'हे सखे' कहा दिया । इनका कारण

क्या था ? 'अज्ञानता महिमान तवद्दम्'—इसका कारण यह था कि मैंने आपकी ऐसी महिमाको और स्वरूपको नहीं जाना कि आप ऐसे प्रिलक्षण हैं । आपके अन्तर्गत अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड विराजमान हैं—ऐसा मैं पहले नहीं जानता था । आपके प्रभावकी तरफ मेरी दृष्टि ही नहीं गयी । मेने कभी सोचा-समझा ही नहीं कि आप कौन हैं और कैसे हैं ।

यद्यपि अर्जुन भगवान्‌के स्वरूपको, महिमाको, प्रभावको पहले भी जानते थे, तभी तो व-होंने एक अश्वौहिणी सेनाको छोड़कर निशङ्क भगवान्‌को स्वीकार किया था, तथापि भगवान्‌के शरीरके किमी एक अंशमें अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड यथावकाश स्थित हैं—ऐसे प्रभावको, स्वरूपको, महिमाको अर्जुनने पहले नहीं जाना । जब भगवान्‌ने कृपा करके विश्वरूप दिखाया, तो उसको देखकर ही अर्जुनकी दृष्टि भगवान्‌के प्रभावकी तरफ गयी और वे भगवान्‌को कुछ जानने लगे । उनका यह विचित्र भाव हो गया कि 'कहाँ तो मैं और कहाँ ये देवोंके देव ।' परन्तु मेने प्रमादसे अथवा प्रेमसे दृष्ट-पूर्वक, बिना सोचे-समझे, जो मनमें आया सो कह दिया—'मया प्रमादात्प्रणयेन वापि' जलनेमें मेने त्रिलोक ही सावधानी नहीं रखी ।

* 'महिमान तव इदम्'—इसमें आया 'इदम्' पद 'महिमानम्'का विशेषण नहीं है, क्योंकि 'महिमानम्' पद पुल्लिङ्गमें आया है और 'इदम्' पद नपुंसकलिङ्गमें आया है । इस वास्ते यहाँ 'इदम्' का अर्थ (स्वरूप) लिया गया है । इस दृष्टिमें 'महिमान तव इदम्' का अर्थ हुआ—आपकी महिमा और स्वरूप ।

वास्तवमें भगवान्की महिमाको सर्वथा कोई जान ही नहीं सकता, क्योंकि भगवान्की महिमा अनन्त है। अगर वह सर्वथा जाननेमें आ जायगी तो उसकी अनन्तता नहीं रहेगी, यह सीमित हो जायगी। जब भगवान्की माम-र्यसे उत्पन्न होनेवाली विभूतियोंका भी अंत नहीं है, तो भगवान् और उनकी महिमाका अन्त कैसे हो सकता है ? अर्थात् आ ही नहीं सकता।

‘यच्चापदात्मार्यमन्नच्छृतोऽसि विहारशय्यासनभोजनेषु’—
 मैंने आपको बराबरीका साधारण मित्र समझकर हँसी-दिल्लीगी करने समय, रास्तेमें चलते-फिरते समय, शय्यापर सोने-जागते समय, धाम्म-पर उठने-बैठते समय, भोजन करते समय जो कुछ अपमानक शब्द कहे, आपका अमत्कार किया अथवा है अद्युत। आप अकृते थे, उस समय या उन लोगों, कुटुम्बीयों, सम्य व्यक्तियों आदिके सामने मैंने आपका जो कुछ निररकार किया है, वह मग में आपसे क्षमा कराता हूँ—‘अप्योऽथवायच्युत तन्ममक्ष तन्नामय न्यामहमप्रमेयम्’।

अर्जुन और भगवान्की मित्रताका एसा वर्णन आता है कि जैसे दो मित्र आपसमें खिन्ने हैं, ऐसे ही अर्जुन भगवान्के साथ खेदते थे। कभी स्वन करते तो अर्जुन हाथोंमें भगवान्के ऊपर जल फेंकते और भगवान् अर्जुनके ऊपर। कभी अर्जुन भगवान्के पीछे दौड़ते तो कभी भगवान् अर्जुनके पीछे दौड़ते। कभी दोनों आपसमें हँसते-रिंसाते। कभी दोनों परस्पर अपनी-पनी निररकार करके खिन्ने। कभी भगवान् से कहा तो अर्जुन गहरी—‘युग इतने

फैलकर सो गये हो, दूसरा कोई मोयेगा कि नहा ? तुम अकेले ही हो क्या ? कभी भगवान् आसनपर बैठ जाते तो अर्जुन कहते— 'आसनपर तुम अकेले ही बैठोगे क्या ? और किमीको बैठने दोगे कि नहीं ? अकेले ही जात्रिपत्य जमा क्रिया । जरा एक तरफ तो खिसक जाओ ।' इस प्रकार अर्जुन भगवान्के साथ बहुत ही घनिष्ठताका व्यवहार करते थे* । अब अर्जुन उन अपराधोंको याद करके कहते हैं कि हे भगवान् ! मेने न जाने ऐसे कितने-कितने अपराध किये हैं । मेरेको तो सब अपराध याद भी नहीं हैं । यद्यपि आपने मेरे अपराधोंकी तरफ न्याय नहा किया, तथापि मेरे द्वारा आपके बहुत-से अपराध हुए हैं, इस यादने मे अग्रमेयस्वरूप आपसे सब अपराध क्षमा कराता हूँ । भगवान्को 'अग्रमेय' कहनेका तात्पर्य है कि दिव्यदृष्टि होनेपर भी आप दिव्यदृष्टिके अन्तर्गत नहीं आते हैं ।

ॐ शय्यामनाटनविष्णुवनभोजनादि-

श्रैक्याद् वयस्य ऋतवानिति निप्रलय ।

मरयु मगत्र पितृवत्तनयस्य सर्वे

सेहे महान महितया युमतेरथ मे ॥

(श्रीमद्भाग० १ । १५ । १९)

अर्जुन कहते हैं—'भगवान् श्रीकृष्णके साथ मान, बैठने, घूमन, यातचीन करने और भोजनादि करोगे मेरा उनका ऐसा सहज भाव हो गया था कि मैं कभी कभी हूँ मरे । तुम तो मेरे, सब बालनेवाले हो । ऐसा कहकर जाते भी नगता था । परन्तु अब मरताया प्रभु अपने दृष्टान्तके अनुसार मुझ बुद्धिके उन मनन्त अपराधोंको जमे ही सदा करते थे, उसे मर्यादा अपने मर्यादे अपराधको या पिता अपने पुत्रके अपराधको उहा करता * ।'

सम्यक्—

अब अगले दो श्लोकोंमें अर्जुन भावानुकी महत्ता और प्रभावका वर्णन करके पुन अपगध क्षमा करनेके लिये प्रार्थना करते हैं ।

श्लोक—

पितासि लोकस्य चराचरस्य
त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकं कुतोऽन्यो
लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव

॥ ४३ ॥

अर्थ—

आप ही इस चराचर मसारके पिता हैं, आप ही पूजनीय हैं और आप ही गुरुओंके महान् गुरु हैं । हे अनन्त प्रभाशशी भगवान् ! इस त्रिलोकीमें आपके समान भी दूसरा कोई नहीं है, फिर अधिक तो हो ही कैसे सकता है ?

व्याख्या—

‘पितासि लोकस्य चराचरस्य’—अनन्त प्रभावमें मनुष्य, पशु, पक्षी आदि मिते जगम प्राणी हैं और वृक्ष, लता आदि जिनमें स्थार प्राणी हैं, उन सबके उपन्न करनेके और उनका पालन करनेके पिता भी आप हैं उनके पूजनीय भी आप हैं तथा उनको शिक्षा देने के महान् गुरु भी आप ही हैं—‘त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।’

‘गुरुर्गरीयान्’ का न परे है कि प्राणिमार्तों के धर धर और पालनेके—‘पितासि’ भी गुरु करनेके लिये लिये हैं, उन शिक्षा

देनेवाले गुरुओके भी महान् गुरु आप ही हैं अर्थात् मात्र शिक्षाका, मात्र ज्ञानका उद्गम-स्थान आप ही हैं ।

‘न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिक कुतोऽन्यो लोकरत्रयेऽप्यप्रतिम-
प्रभाय’—उस त्रिलोकीमें जत्र आपके समान भी कोई नहीं है, कोई
होगा नहीं और कोई हो सकता ही नहीं, तो आपसे अधिक प्रिलक्षण
कोई हो ही कैसे सकता है ? इस वास्ते आपका प्रभाय अनुत्तनीय
है, उसकी तुलना किसीसे भी नहीं की जा सकती ।

श्लोक—

तस्मात्प्रणम्य प्रणिवाय काय
प्रसादये त्वामहमीशमीडयम् ।
पितेव पुत्रस्य सखेव सरयु
प्रिय प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥ ४४ ॥

अर्थ—

इसलिये शरीरसे लम्बा पडकर स्तुति करनेयोग्य आप ईश्वरको
मैं प्रणाम करके प्रमन्न करना चाहता हूँ । जैसे पिता पुत्रके, मित्र
मित्रके और पति पत्नीके अपमानको मह लेना है, ऐसे ही हे देव ।
आप मेरे द्वारा किया अपमान महनेमें समर्थ हैं ।

व्याख्या—

‘तस्मात् प्रणम्य प्रणिवाय काय प्रसादये त्वामहमीशमीडयम्
—जत्र आपके समान भी कोई नहा है, तो आपसे बढ़कर कोई
हो ही कैसे सकता है ? ऐसे आप अनन्त ब्रह्माण्डके ईश्वर हैं ।
उस शान्त मनके द्वारा स्तुति करनेयोग्य आप ही हैं । आपके
गुण, प्रभाय, महत्त्व शक्ति, अनन्त हैं, अतः सखि, मर्दि, देवता ।

महापुरुष आपकी निरन्तर-स्तुति करते रहें तो भी पार नहीं पा सकते। ऐसे स्तुति करनेयोग्य आपकी मैं क्या स्तुति कर सकता हूँ ? मेरेमें आपकी स्तुति करनेका बल नहीं है, मामर्थ्य नहीं है। इस वास्ते मैं तो केवल आपके चरणोंमें लम्बा पड़कर दण्डवत् प्रणाम ही कर सकता हूँ और इसीसे आपको प्रमन्न करना चाहता हूँ।

‘पितेव पुत्रस्य सखेव सख्यु प्रिय प्रियायार्हसि देव सोढुम्’
—किसीका अपमान होता है तो उसमें मुख्य तीन कारण होते हैं—(१) प्रमाद-(अमानयानी) से (२) ईर्ष्या-दिल्लगी, मित्रोद्वेग-द्वेष न रहनेसे और (३) अपनेपनकी घनिष्ठता होनेपर अपने साथ रहनेवालेका महत्त्व न जाननेसे। जैसे, गोदीमें बैठा हुआ गीटा बच्चा अज्ञानवश पिताकी टाडी-भूँट खींचता है, मुँहपर थप्पड़ लगाता है, कभी कहीं लान मार देता है तो बच्चेकी ऐसी बेशर देवकर पिता राजी ही होना है, प्रमन्न ही होना है। पर अपने में यह मार लगता ही नहीं कि ‘तुम नेव अमान कर रहा है’। मित्र मित्रके साथ चक्के चिखते, उठते-बैठते आदि समय चाहे जैसा व्यवहार करता है, चाहे जैसा बोल देता है, जैसे—‘तुम उठ नय बोलने हो गी’। तुम तो बड़े स्वप्रतिष्ठ हो ? अब तो तुम उठ आदमी हो गये हो’। तुम तो गूर जमिन न करने लग गये हो’। आप माना तुम राजा ही बन गये हो’। आदि, पर उत्तरा मित्र उमरी हा गन्देवा रजा नहीं करना। पर नो बड़ी साक्षा है कि हम कतरकीक विर है ऐसी ऐसी दिल्लगी तो होनी ही गनी है।

पत्नीके द्वारा आपसके प्रेमके कारण उठने-बैठने, बातचीत करने आदिमें पतिनी जो कुछ अग्रहेलना होती है, उसे पति सह लेता है। जैसे, पति नीचे बैठे है तो वह ऊँचे आसनपर बैठ जाती है, कभी किसी बातको लेकर अग्रहेलना भी कर देती है, पर पति उसे स्वाभाविक ही सह लेता है। अर्जुन कहते हैं कि जैसे पिता पुत्रके, मित्र मित्रके और पति पत्नीके अपमानको सह लेता है अर्थात् क्षमा कर देता है, ऐसे ही हे भगवन् ! आप मेरे अपमानको सहनेमें समर्थ हैं अर्थात् इसके लिये मैं आपसे क्षमा माँगता हूँ।

इकनालीसवें-ब्यालीसवें श्लोकोंमें अर्जुनने तीन बातें कही थीं— 'प्रमादात्' (प्रमादसे), 'अवहासार्यम्' (हँसी दिल्लगीसे) और 'प्रणयेन' (प्रेमसे)। उन्हीं तीन बातोंका समेत अर्जुनने यहाँ तीन दृष्टान्त देकर क्रिया है अर्थात् प्रमादके लिये पिता-पुत्रका, हँसी-दिल्लगीके लिये मित्र-मित्रका और प्रेमके लिये पति-पत्नीका दृष्टान्त दिया है।

ग्यारहवें अध्यायमें ग्यारह रसोंका वर्णन

ग्यारहवें अध्यायमें ग्यारह रसोंका वर्णन इस प्रकार हुआ है—
देवरूपका वर्णन होनेसे 'शान्तरस' (११। १५-१८), स्वर्गसे पृथ्वीतक और दसों दिशाओंमें व्याप्त विराटरूपका वर्णन होनेसे 'अद्भुतरस' (११। २०), अपनी जिह्वामें सबका घ्रमन कर रहे हैं और मंत्रका सहार करनेके लिये कालरूपसे प्रवृत्त हुए हैं—ऐसा रूप धारण क्रिय होनेसे 'शौड्ररस' (११। ३०, ३२), भयकर विकराल मुख और दाढ़ोंवाला रूप होनेसे 'ग्रीभसरस' (११। २३-२५), तुम युद्धके लिये लड़े हो जाओ—इस रूपमें 'वीररस'

महापुरुष आपकी नित्य-निरन्तर स्तुति करते रहें तो भी पार नहा पा सकते। ऐसे स्तुति करनेयोग्य आपकी मैं क्या स्तुति कर सकता हूँ : मेरेमें आपकी स्तुति करनेका बल नहीं है, सामर्थ्य नहीं है। इस वास्ते में तो केवल आपके चरणोंमें लम्बा पडकर दण्डवत प्रणाम ही कर सकता हूँ और इसीसे आपको प्रसन्न करना चाहता हूँ।

‘पितेव पुत्रस्य सखेव सख्यु प्रिय प्रियायार्हासि देव सोढुम्’
—किसीका अपमान होता है तो उसमें मुख्य तीन कारण होते हैं—(१) प्रमाद-(अमाशानी-) से (२) हँसी-दिल्लीगी, विनोदमें ख्याल न रहनेसे और (३) अपनेपनकी घनिष्टता होनेपर अपने साथ रहनेवालेका महत्त्व न जाननेसे। जैसे, गोदीमें बैठा हुआ छोटा बच्चा अज्ञानग्रस्त पिताकी दाढ़ी-मूँठ खींचता है, मुँहपर थप्पड़ लगाता है, कभी कहीं लत मार देता है तो बच्चेकी ऐसी चेष्टा देखकर पिता राजी ही होता है, प्रसन्न ही होना है। यह अपनेमें यह भाव लाता ही नहीं कि पुत्र मेरा अपमान कर रहा है। मित्र मित्रके साथ चन्ते फिरते, उठते बैठने आदि समय चाहे जैसा व्यवहार करता है, चाहें जैसा बोल देता है, जैसे—‘तुम उड़े साथ बोलते हो जी ! तुम तो उड़े सत्यप्रतिज्ञ हो : अरु तो तुम उठ आदमी हो गये हो ! तुम तो ग्वर अभिमान करने लग गये हो ! आज मानो तुम राजा ही बन गये हो ! आदि, पर उसका मित्र उसकी इन बातोंका ख्याल नहीं करता। यह तो यही समझता है कि हम सरासरीके मित्र हैं, ऐसी हँसी-दिल्लीगी तो होनी ही रहती है।

व्याख्या—

[जैसे विगड् रूप दिखानेके लिये मैंने भगवान्से प्रार्थना की तो भगवान्ने मुझे विराटरूप दिखा दिया, ऐसे ही देवरूप दिखानेके लिये प्रार्थना करनेपर भगवान् देवरूप दिगायेंगे ही—ऐसी आशा होनेसे अर्जुन भगवान्ने प्रार्थना करते हैं ।]

‘जहद्वयं दृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथित मनो मे’— आपका ऐसा अलौकिक आश्चर्यमय विशालरूप मेने पहले कभी नहीं देखा । आपका ऐसा भी रूप है—ऐसी मेरे मनमें सम्भावना भी नहीं थी । ऐसा रूप देखनेकी मेरेमें कोई योग्यता नहीं थी । यह तो केवल अपने अपनी तरफसे ही कृपा करके दिखाया है । इससे मैं अपने-आपको बड़ा सौभाग्यशाली मानकर हर्षित हो रहा हूँ, आपकी कृपाको देखकर गद्गद हो रहा हूँ । परन्तु साथ-ही-साथ आपके स्वरूपकी उग्रताको देखकर मेरा मन भयके कारण अत्यन्त व्यथित हो रहा है, व्याकुल हो रहा है, घबरा रहा है ।

‘तदेव मे दर्शय देवरूपम्’—‘तत्’ (यह) शब्द परोक्षगची है, अतः ‘तदेव’ (तत् एव) कहनेसे ऐसा मात्रम देना है कि अर्जुनने देवरूप (विष्णुरूप) पहले कभी देखा है, जो अभी नामने नहीं है । विश्वरूप देखनेपर जहाँ अर्जुनकी पल्ले दृष्टि पड़ी, वहाँ उन्होंने कमलासनपर विराजमान ब्रह्माजीको देखा—‘पश्यामि देवास्तव देव देहे

ब्रह्माणमीश कमला
र से मित्त होता है कि यह

(११ । ३३), लम्बे पङ्कर, दण्डप्रत्-प्रणाम आदि करनेमें 'दाम्यरस' (११ । ४४ का पूर्वार्ध), मुख्य-मुख्य योद्धाओंको तथा अन्य राजालोगोंको भगवान्के मुखमें जाते हुए देखनेसे 'करुणरस' (११ । २८-२९), दृष्टान्तरूपसे मित्र मित्रके, पिता पुत्रके और पति पत्नीके अपमाकाको मह लेता है—इस रूपमें क्रमशः 'सन्ध्यरस', 'नात्सल्यरस' और 'माधुर्यरस' का वर्णन हुआ है (११ । ४४ का उत्तरार्ध) और हँसी आदिकी स्मृतिरूपसे 'हाम्यरस' का वर्णन हुआ है (११ । ४२ का पूर्वार्ध) ।

सम्बन्ध—

अब अगले दो श्लोकोंमें अर्जुन चतुर्भुजरूप दिग्मानेके लिये प्रार्थना करते हैं ।

श्लोक—

अदृष्टपूर्वं हृदिनोऽसि दृष्ट्वा
भयेन च प्रव्यथित मनो मे ।
तदेव मे दर्शय देवरूप
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥ ४५ ॥

अर्थ—

मैंने ऐसा रूप पहले कभी नहीं देखा । इस रूपको देखकर मैं हर्षित हो रहा हूँ और (माय-ही-साय) भयसे मेरा मन व्यथित भी हो रहा है । इस माते आप मुझे अपने उमी देवरूपको (मौम्य त्रिण्युरूपको) दिखाइये । हे 'देवेश' हे जगन्निवास 'अप प्रसन्न होइये ।

ब्याख्या—

[जैसे विगड् रूप दिखानेके लिये मन भगवान्से प्रार्थना की तो भगवान्ने मुझे विराट् रूप दिखा दिया, ऐमे ही देव रूप दिखानेके लिये प्रार्थना करनेपर भगवान् देव रूप दिखायेंगे ही—ऐसी आशा होनेसे अर्जुन भगवान्मे प्रार्थना करते है ।]

‘अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रच्ययित मनो मे’— आपका ऐसा अत्रोक्ति आश्चर्यमय विगडरूप मेने पहले कभी नहीं देखा । आपका ऐसा भी रूप है—ऐसी मेरे मनमें सम्भाषना भी नहीं थी । ऐसा रूप देखनेकी मेरेमें जोई योग्यता नहीं थी । यह तो केवल अपने अपनी तरफसे ही कृपा करके दिखाया है । इससे मे अपने-आपको बड़ा सौभाग्यशाली मानकर हर्षित हो रहा हूँ, आपकी कृपाको देखकर गद्गद हो रहा हूँ । परन्तु साथ-ही-साथ आपके स्वरूपकी उन्नताको देखकर मेरा मन भयके कारण अत्यन्त व्यथित हो ग्हाटे, व्याकुल हो रहा है, घनरा रहा है ।

‘तदेव मे दर्शय देवरूपम्’—‘तत्’ (यह) शब्द परोक्षमाची है, अतः ‘तदेव’ (तत् एव) कहनेसे ऐसा माहृम देता है कि अर्जुनने देव रूप (विष्णुरूप) पहले कभी देखा है,, तो अभी मानने नहीं है । विश्वरूप देखनेपर जहाँ अर्जुनकी पहले दृष्टि पड़ी, वहा वहाँने कमगमनपर विराजमान ब्रह्माजीको देगा—‘पश्यामि देवान्स्त्व देव देहे
 प्रहाणमशि कमलासनस्थम् (११.१५) ।
 रसे सिद्ध होता है कि यह कमल निमकी नाभिमे निजग्राह, उभ

शेषशायी चतुर्भुज विष्णुरूपको भी अर्जुनने देखा है। आगे सत्रहवें श्लोकमें अर्जुनने कहा है कि मे आपको किरीट, गदा, चक्र (आर 'च' पदसे शङ्ख और पद्म) धारण किये हुए देख रहा हूँ—'किरीटिनम् गदिन चक्रिण च । इन दोनों बानोसे यही सिद्ध होता है कि अर्जुनन विष्णुरूपके अन्तर्गत भगवान्‌के जिम विष्णुरूपको देखा था, उसीके लिये अर्जुन यहाँ 'यही देवरूप मेरेको दिखाइये' एसा कह रहे हैं।

'देवरूपम्' कहनेका तात्पर्य है कि मैंने विराटरूपमें आपको विष्णुरूपको भी देखा था, पर अब आप मेरेको केवल विष्णुरूप ही दिखाइये। दूसरी बात, पंद्रहवें श्लोकमें भी अर्जुनन भगवान्‌के लिये 'देव' कहा है—'पश्यामि देवास्तव देव देहे' ओर यहाँ भी देवरूप दिखानेके लिये कहते हैं। इसका तात्पर्य है कि विराटरूप भी नहीं और मनुष्यरूप भी नहीं, केवल देवरूप दिखाइये। अगले (ट्रिपालीसमें) श्लोकमें भी 'तेनैव' पदसे विराटरूप ओर मनुष्यरूपका नियंत्रण के चतुर्भुज विष्णुरूप वन जानेके लिये प्रार्थना करते हैं।

'प्रसीद देवश जगन्निवास'—यहाँ 'जगन्निवास' सम्बोधन विश्वरूपका ओर 'देवेश' सम्बोधन चतुर्भुजरूपका समेत कर रहा है। अर्जुन ये दो सम्बोधन ठकर मनो यह कह रहे हैं कि सम्पूर्ण ससारका नियाम आपमें है—ऐसा विश्वरूप तो मैंने ठकर देखा है ओर देखा ही रहा हूँ। अब आप 'देवेश'—देवताओंके मास्त्रि विष्णुरूपमें हो जाइये।

श्लोक—

किरीटिन गदिन चक्रहस्त-

मिच्छामि त्वा द्रष्टुमह तथैव ।

तनैव* रूपेण चतुर्भुजेन

सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ॥ ४६ ॥

अर्थ—

मैं आपको वैसे ही किरीटधारी, गदाधारी और हाथमें चक्र लिये हुए देखना चाहता हूँ । इस रास्ते हैं सहस्रबाहो । हे विश्वमूर्ते ! आप उसी चतुर्भुजरूपसे हो जाइये ।

* इदमस्तु स्यात्सनिहृष्टे समीपतरवर्ति चेतदो रूपम् ।

अदसस्तु त्रिप्रकृष्टे तदिति परोक्षे विचानीयात् ॥

—इस उक्तिके अनुसार 'इदम्' शब्द समीपका, 'एतत्' शब्द

अत्यन्त समीपका, 'अदस' शब्द दूरका और 'तत्' शब्द परोक्षका वाचक है । विश्वरूपमें इस सबका प्रयोग हुआ है, जैसे—विश्वरूप नजदीक होनेसे अर्जुनने अठारहवें, उनीसव आदि श्लोकमें 'इदम्' शब्दका, भीष्म, द्रोण आदि विराटरूप भगवान्‌के अत्यन्त नजदीक होनेसे अर्थात् विराटरूप का हा अङ्ग होनेसे भगवान्‌ने तेतीसवें श्लोकमें 'एतत्' शब्दका, भगवान्‌की टी हुई दिव्यदृष्टिसे विराटरूप प्रकृत दूरतक दीगना था और उसमें देवता आदि भी दूरतक दीसते थे, इस रास्ते अर्जुनने इकीसव, उनीसव और अठ्ठाइसव श्लोकमें 'अदस' शब्दका, और विराटरूपके पहले मरम देना हुआ चतुर्भुज त्रिगुणरूप विराटरूपके स्वरूप बदलनेके कारण वह रूप नेत्रोंके सामने न होनेसे अर्थात् परोक्ष होनेसे अर्जुनने 'तत्' शब्दका प्रयोग किया है ।

व्याख्या—

‘किरीटिन गदिन चक्रहस्तमिच्छामि त्वा द्रष्टुमह तथैव’—
जिसमें आपने निरपर, दिव्य मुकुट तथा हाथोंमें गदा और चक्र धारण
कर रखे हैं, उसी रूपको मैं देखना चाहता हूँ ।

‘तथैव’ कहनेका तात्पर्य है कि मेरे द्वारा ‘द्रष्टुमिच्छामि ते
रूपम्’ (११ । ३) ऐसी इच्छा प्रकट करनेसे आपने निरादरूप
दिखाया । अत्र मे अपनी इच्छा वाणी क्यों रखूँ ? इस रास्ते मैंने आपके
निरादरूपमें जैसा योग्य चतुर्भुजरूप देखा है, वैसा-का वैसा ही रूप
मैं अत्र देखना चाहता हूँ—‘इच्छामि त्वा द्रष्टुमह तथैव’ ।

‘तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते’—पन्द्रहवें
और सत्रहवें श्लोकमें जिस निरादरूपमें चतुर्भुज विष्णुरूपको देखा
या, उस निरादरूपका निषेध करनेके लिये अर्जुन यहाँ ‘एव’ पद
देते हैं । तात्पर्य यह है कि ‘तेन चतुर्भुजेन रूपेण’—ये पद तो
चतुर्भुजरूप दिखानेके लिये आये हैं और ‘एव’ पद निरादरूपके साथ
नहीं—ऐसा निषेध करनेके लिये आया है तथा ‘भव’ पद ‘हो
जाइये’—ऐसी प्रार्थनाके लिये आया है ।

पिछले श्लोकमें ‘तथैव’ तथा यहाँ ‘तथैव’ और ‘तेनैव’—
तीनों पदोंका तात्पर्य है कि अर्जुन विचरूपसे बहुत टर गये थे । इस
वाक्यमें तीन बार ‘एव’ अव्ययका प्रयोग करके भाग्यार्थमें कहते हैं कि
मैं आपका केवल विष्णुरूप ही देखना चाहता हूँ, विष्णुरूपके
साथ विश्वरूप नहीं । इस वाक्यमें आप केवल चतुर्भुजरूपमें प्रकट
हो जाइये ।

‘सहस्रगहो’ सम्बोधनका यह भाव माझम देता है कि हे हजारो हायोगाले भगवन् ! आप चार हायोगाले हो जाइये, और ‘विश्वमूर्ते’ सम्बोधनका यह भाव माझम देता है कि हे अनेक रूपोंगाले भगवन् ! आप एक रूपगाले हो जाइये । तात्पर्य है कि आप विश्वरूपका उपसंहार करके चतुर्भुज विष्णुरूपमे हो जाइये ।

सम्बन्ध—

इकतीसवें श्लोकमे अर्जुनने पूछा कि उग्ररूपगाले आप कोन हँ, तो भगवान्ने उत्तर दिया कि मैं काल हूँ ओर सयका सहार करनेके लिये प्रवृत्त हुआ हूँ । ऐसा सुनकर तथा अत्यन्त विकराल रूपको देखकर अर्जुनको ऐसा लगा कि भगवान् बडे क्रोधमें हैं । इस वास्ने अर्जुन भगवान्से चार-चार प्रसन्न होनेके लिये प्रार्थना करते ह । अर्जुनकी इस भावनाको दूर करनेके लिये भगवान् अगला श्लोक कहते ह ।

श्लोक—

श्रीभगवानुवाच

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेन
रूप पर दर्शितमात्मयोगात् ।
तेजोमय विश्वमनतमाद्य
यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥ ४७ ॥

अर्थ—

श्रीभगवान् बोले—हे अर्जुन ! मैंने प्रसन्न हो करके अपनी सामर्थ्यसे यह अत्यन्त श्रेष्ठ, तेजोमय, मनका आदि और अनन्त

विश्वरूप तेरेको दिखाया है। यह विश्वरूप तुम्हारे मियाय पहले किमीने नहीं देगा है।

व्याख्या—

‘मया प्रसन्नेन तवार्जुनेन रूपं दर्शितम्’—हे अर्जुन ! बार-बार यह कह रहा है कि आप प्रसन्न हो जाओ (११। २५, ३१, ४५), तो प्यारे भैया ! मैंने जो यह विश्वरूप तेरेको दिखाया है, उसमें प्रकृगठरूपको देखकर तू भयभीत हो गया है, पर यह विश्वरूप मेने क्रोधमें आकर या तेरेको भयभीत करनेके लिये नहीं दिखाया है। मैंने अपनी प्रमनतासे ही यह विश्वरूप तेरेको दिखाया है। इसमें तेरी कोई योग्यता, पात्रता अथवा भक्ति कारण नहीं है। तुमने तो पहले केवल विभूति और योगको ही पूछा था। विभूति और योगका वर्णन करके मैंने अतमें कहा था कि तेरेको जहाँ-कहाँ जो कुछ विलक्षणता दीखे, वहाँ-वहाँ मेरी ही विभूति समझ। इस प्रकार तुम्हारे प्रश्नका उत्तर सम्यक प्रकारसे मैंने दे ही दिया था। परन्तु वहाँ मैंने ‘अथवा’ पदसे अपनी ही तरफसे यह बात कही कि तेरेको बहुत जाननेसे क्या मन्त्र : देखने, सुनने, समझनेमें जो कुछ ससार आता है, उस सम्पूर्ण संसारको मैं अपने किमी अंगमें ग्राहण करके स्थित हूँ। दूसरा भाग यह है कि तेरेको मेरी विभूति और योगशक्तिका जाननेकी क्या जरूरत है ? क्योंकि सब विभूतियाँ मेरी योगशक्तिके आश्रित हैं और उन योगशक्तिका अश्रय मैं मात्र तेरे सामने पैदा हूँ। यह बात तो मैंने विशेष रूप से कहे ही नहीं थी। इस बातको केरु ही तुम्हारी

किञ्चर-दर्शनकी उन्हा हुई ओर मने दिव्यनक्षु देकर तुम्हें विश्वरूप दिखाया । यह तो मेरी कोरी प्रसन्नता ही-प्रसन्नता है । तत्पर्य है कि इस किञ्चररूपको दिखानेमें मेरी कृपाके मित्राय दूसरा कोई हेतु नहीं है । तेरी देखनेकी उन्हा तो निमित्तमात्र है ।

‘आत्मयोगात्’—इस विराटरूपको दिखानेमें मेने किमीकी सहायता नहीं ली, प्रयुक्त केवल अपनी सामर्थ्यमें ही तेरेको यह रूप दिखाया है ।

‘परम्’—मेरा यह विराटरूप अयन्त श्रेष्ठ है ।

‘तेजोमयम्’—यह मेरा विश्वरूप अयन्त तेजोमय है । इस वास्ते दिव्यदृष्टि मिलनेपर भी तुमने इस रूपको दुर्निरीक्ष्य कहा है (११ । १७) ।

‘विश्वम्’—इस रूपको तुमने भव्य विश्वरूप, विश्वमूर्ते जादि नामोसे सम्बोधित किया है । मेरा यह रूप सर्वव्यापी है ।

‘अनन्तमाद्यम्’—मेरे इस विश्वरूपका लेंग, काय आदिकी दृष्टिमें न तो जादि है और न अन्त ही है । यह सतक आदि है और स्वय अनदि है ।

‘यन्मे त्वदन्धेन न दृष्टपूर्वम्’—बुद्धारे मित्राय मेरे विश्वरूपको पटले किमीने भी नहा दखा—यह बात भगवान्ने कसे कही ? क्योंकि रामायणमें माता कौसल्याजीने और वृष्णावतारमें माता यज्ञोदाजीने तथा कारासभामें भीष्म, द्रोण, मत्स्य, सित्रु और ऋषि मुनियाने भगवान्का विराटरूप देखा ही था । इसका उत्तर यह है कि भगवान्ने अपने विराटरूपके लिये ‘पररूप’ (११ । १८)

पद देकर कहा है कि इस प्रकारके भयकर त्रिस्वरूपको, जिसके मुखोमें बड़े-बड़े योद्धा, सेनापति आदि जा रहे हैं, पहले किसीने नहा देखा है।

दूसरी बात, अर्जुनके सामने युद्धका मौका होनेसे ऐसा भयकर त्रिस्वरूप दिखानेकी ही आवश्यकता थी और शूरावीर अर्जुन ही ऐसे रूपको देख सकते थे। परन्तु माता कौशल्या आदिके सामने ऐसा रूप दिखानेकी आवश्यकता भी नहीं थी और वे ऐसा रूप देख भी नहीं सकते थे अर्थात् उनमें ऐसा रूप देखनेकी सामर्थ्य नहीं थी।

भगवान्ने यह तो कहा है कि इस त्रिस्वरूपको पहले किसीने नहीं देखा, पर वर्तमानमें कोई नहीं देख रहा है—ऐसा नहीं कहा है। कारण कि अर्जुनके साथ साथ सजय भी भगवान्के त्रिस्वरूपको देख रहे हैं। अगर सजय न देखते तो वे गीताके अन्तमें यह कैसे कह सकते थे कि भगवान्के अति अद्भुत रूपका बार-बार स्मरण करके मेरेको बड़ा भारी निश्चय हो रहा है और मैं बार-बार हर्षित हो रहा हूँ*।

भगवत्कृपा मन्वन्धी विशेष बात

भगवान्के द्वारा 'मैंने अपनी प्रमत्ततासे, कृपासे ही तेरेको यह त्रिस्वरूप दिखाया है'—ऐसा कहनेसे एक निश्चय भाव निश्चयता

* तद्य गस्मृत्य सस्मृत्य रूपमत्यद्भुतम् ।

विग्राहो मे महान् गता दृश्यामि च पुन पुन ॥

(गीता १८ । ७७)

है कि साधक अपनेपर भगवान्की जितनी कृपा मानता है, उससे कई गुना अधिक भगवान्की कृपा होती है । भगवान्की जितनी कृपा होती है, उसको माननेकी सामर्थ्य साधकमें नहीं है । कारण कि भगवान्की कृपा अपार-असीम है, और उसको माननेकी सामर्थ्य सीमित है ।

साधक प्रायः अनुकूल वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति आदिमें भगवान्की कृपा मान लेता है अर्थात् सत्सङ्ग मिलता है, साधन ठीक चलता है, वृत्तियाँ ठीक हैं, मन भगवान्में ठीक लग रहा है आदिमें वह भगवान्की कृपा मान लेता है । इस प्रकार केवल अनुकूलतामें ही कृपा मानना कृपाको सीमामें बाँधना है, जिसमें असीम कृपाका अनुभव नहीं होता । उस कृपामें ही राजी होना कृपाका भोग है । साधकको चाहिये कि वह न तो कृपाको सीमामें बाँधे और न कृपाका भोग ही करे ।

साधन बननेमें जो सुख होता है, उस सुखमें सुखी होना, राजी होना भी भोग है, जिससे बन्धन होता है—'सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ' (गीता १४ / ६) । सुख होना, अपना सुखका ज्ञान होना दोषी नहीं है, प्रयुक्त उसके साथ सङ्ग करना, सुखी होना, प्रसन्न होना ही दोषी है । इससे अर्थात् साधनजन्य सार्विक सुख भोगनेसे गुणातीत होनेमें बाधा लगती है । इस वास्ते साधकको बड़ी सावधानीसे इस सुखसे असङ्ग होना चाहिये । जो साधक इस सुखसे असङ्ग नहीं होता अर्थात् उसमें प्रसन्नतापूर्वक सुख लेता रहता है, वह भी यदि अपनी साधनामें तपस्वतापूर्वक लगा रह, तो समय पाकर

उसकी उस सुखसे स्वतः अरुचि हो जायगी । परन्तु जो उस सुखसे साधनानीपूर्वक असक्त रहता है, उसे शीघ्र ही वास्तविक तत्त्वज्ञान अनुभव हो जायगा ।

सम्यन्ध—

विश्वरूप-दर्शनके लिये भगवान्की कृपाके सिवाय दूसरा कोई साधन नहीं है—इस बातका अगले श्लोकमें विशेषतासे वर्णन करते हैं ।

श्लोक—

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानै-
 र्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रै ।
 परुरूप शक्यः अह नृलोके
 द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥ ४८ ॥
 अर्थ—

हे कुरुप्रवीर ! मनुष्यशरीरमें इस प्रकारके विश्वरूपपान्ना में न वेदोंके पढ़नेसे, न यज्ञोंके अनुष्ठानसे, न दानसे, न उग्र तपोंसे और न मात्र क्रियाओंसे तेरे (कृपापात्रके) सिवाय और किसीके द्वारा देखा जाना शक्य है ।

व्याख्या—

'कुरुप्रवीर'—यहाँ धर्जुनके लिये 'कुरुप्रवीर' सम्बोधन देनेका अभिप्राय है कि सम्पूर्ण कुरुवशियोंमें मेरेसे उपदेश सुननेकी, मेरे रूपको देखनेकी—और जाननेकी तेरी जिज्ञासा हुई, तो यह कुरुवशियोंमें तुम्हारी श्रेष्ठता है । तात्पर्य यह हुआ कि भगवान्को देखनेकी, जाननेकी इच्छा होना ही वास्तवमें मनुष्यशरीरकी श्रेष्ठता है ।

‘न वेद्यज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरत्रैः—
 मनुष्य-शरीरमें वेदोंका अध्ययन किया जाय, यज्ञोंका विधि-विधानसे
 अनुष्ठान किया जाय, बड़े-बड़े दान किये जायँ, बड़ी उग्र (कठिन-
 से कठिन) तपस्याएँ की जायँ और तोर्य, व्रत आदि शुभ-कर्म किये
 जायँ—ये सब के-सब कर्म विश्वरूपदर्शनमें हेतु नहीं बन सकते ।
 कारण कि जितने भी कर्म किये जाते हैं, उन सबका आरम्भ और
 समाप्ति होती है । इस वास्ते उन कर्मोंसे मिलनेवात्र ‘फल भी आदि
 और अन्तमाला ही होता है । अतः ऐसे कर्मोंसे भगवान्के अनन्त,
 असीम, अव्यय, दिव्य विश्वरूपके दर्शन कैसे हो सकते हैं ? उसके
 दर्शन तो केवल भगवान्की कृपासे ही होते हैं । कारण कि भगवान्
 नित्य हैं और उनकी कृपा भी नित्य है । अतः नित्य कृपासे ही
 अर्जुनको भगवान्के नित्य, अव्यय, दिव्य विश्वरूपके दर्शन हुए हैं ।
 तात्पर्य यह हुआ कि उनमेंसे एक-एकमें अथवा सभी माधनोंमें यह
 सामर्थ्य नहीं है कि वे विश्वरूपके दर्शन करा दें । विश्वरूपके दर्शन
 तो केवल भगवान्की कृपासे, प्रसन्नतासे ही हो सकते हैं ।

गीतामें प्रायः यज्ञ, दान और तप—इन तीनोंका ही वर्णन आता
 है । आठवें अध्यायके अट्ठाईसवें श्लोकमें और इसी अध्यायके निरपनवें
 श्लोकमें वेद, यज्ञ, दान और तप—इन चारोंका वर्णन आया है और
 यहाँ वेद, यज्ञ, दान, तप और क्रिया—इन पाँचोंका वर्णन आया
 है । आठवें अध्यायके अट्ठाईसवें श्लोकमें समी विभक्ति और बहुवचन
 तथा यहाँके श्लोकमें तृतीया विभक्ति और बहुवचनका प्रयोग हुआ है,
 जबकि दूसरी जगह प्रायः प्रथमा विभक्ति और एकवचनका प्रयोग
 आता है ।

यहाँ तृतीया विभक्ति और बहुवचन देनेका तात्पर्य यह है कि इन वेद, यज्ञ, दान आदि साधनोंमेंसे एक-एक साधन विशेषतासे बहुत बार किया जाय अथवा सभी साधन विशेषतासे बहुत बार किये जायँ, तो भी वे मन्त्र-के-सब साधन विश्वरूपदर्शनके कारण नहीं बन सकते अर्थात् इनके द्वारा विश्वरूप नहीं देखा जा सकता । कारण कि विश्वरूपका दर्शन करना किसी कर्मका फल नहीं है ।

जैसे यहाँ वेद, यज्ञ आदि साधनोंसे विश्वरूप नहीं देखा जा सकता—ऐसा कहकर विश्वरूपदर्शनकी दुर्लभता बतायी है, ऐसे ही आगे तिरपनमें श्लोकमें वेद, यज्ञ आदि साधनोंसे चतुर्भुजरूप नहीं देखा जा सकता—ऐसा कहकर चतुर्भुजरूपदर्शनकी दुर्लभता बतायी है । चतुर्भुजरूपको देखनेमें अनन्यभक्तिको साधन बताया है (११।५४), क्योंकि वह रूप ऐसा विरक्षण है कि उसका दर्शन देवता भी चाहते हैं । इस वास्ते उस रूपमें भक्ति ही सकती है । परन्तु विश्वरूपको देखकर तो मय लगता है, ऐसे रूपमें भक्ति कैसे होगी, प्रेम कैसे होगा ? इस वास्ते इसके दर्शनमें भक्तिको साधन नहीं बताया है । यह तो केवल भगवान्की प्रसन्नतासे, वृत्तासे ही देखा जा सकता है ।

‘एवमेष शक्यं अहं नृलोके द्रष्टुं त्रदन्येन—
 इन साधनोंसे तुम्हारे सिवाय मेरा विश्वरूप कोई देना नहीं सकता—इमका अर्थ यह नहीं है कि इन साधनोंसे व देना सकता है । तुम्हारेको मैंने अपनी प्रसन्नतासे ही यह रूप दिखाया है ।

सजयको भी जो विश्वरूपके दर्शन हो रहे थे, वह भी व्यासजीकी कृपासे प्राप्त दिव्यदृष्टिसे ही हो रहे थे, किसी दूसरे साधनसे नहीं। तात्पर्य है कि भगवान् और उनका भक्तों, सन्तोंकी कृपासे जो काम होता है, वह काम साधनोंसे नहीं होता। इनकी कृपा भी अद्वैतकी होती है।

सम्बन्ध—

अर्जुनका भय दूर करनेके लिये भगवान् अगले श्लोकमें उनको 'देवरूप' देसनेकी आज्ञा देते हैं।

श्लोक—

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो
 दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृद्धमेदम् ।
 व्यपेतभी प्रीतमना पुनस्त्व
 तद्देव मे रूपमिदं प्रपद्य ॥ ४९ ॥

अर्थ—

यह इस प्रकारका मेरा घोररूप देखकर तेरेको व्यथा नहीं होनी चाहिये और मूढ़भाव भी नहीं होना चाहिये। अब निर्भय और प्रसन्न मनवाला होकर तू फिर उसी मेरे इस (चतुर्भुज) रूपको अच्छी तरह देख ले।

व्याख्या—

'मा ते व्यथा मा च विमूढभावो दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृद्धमेदम्'—
 मित्राल दाढ़ोंके कारण भयभीत करनेवाले मेरे मुखोंमें योदाज्योग
 बडी तेजीसे जा रहे हैं, उनमेंसे कई चूर्ण हुए मिर्चसहित दाँतोंके
 बीचमें फँसे हुए दीख रहे हैं और मैं प्रख्यकालकी अग्निके समान

प्रज्वलित मुखोद्वारा सम्पूर्ण लोकोत्तम प्रसन्न करते हुए उनको चारों ओरसे चाट रहा हूँ—इस प्रकारके मेरे घोर रूपको देखकर तेरेको व्यथा नहीं होनी चाहिये, प्रत्युत प्रसन्नता होनी चाहिये । तात्पर्य है कि पहले (११ । ४५ में) तू जो मेरी कृपाको देखकर हर्षित हुआ था, तो मेरी कृपाकी तरफ दृष्टि होनेसे तेरा हर्षित होना ठीक ही था, पर यह व्यथित होना ठीक नहीं है ।

अर्जुनने जो पहले कहा है—‘प्रव्यथितास्तथाहम्’ (११ । २३) और ‘प्रव्यथितान्तरात्मा’ (११ । २४) । उसीके उत्तरमें भगवान् यहाँ कहते हैं—‘मा ते व्यथा’ ।

मे कृपा करके ही ऐसा रूप दिखा रहा हूँ । इसको देखकर तेरेको मोहित नही होना चाहिये—‘मा च विमूढभावः’ । दूसरी बात, मैं तो प्रसन्न ही हूँ और अपनी प्रसन्नतासे ही तेरेको यह रूप दिखा रहा हूँ, परन्तु तू जो बार-बार यह कह रहा है कि ‘प्रसन्न हो जाओ । प्रसन्न हो जाओ’ यही तेरा विमूढभाव है । तू इसको छोड़ दे । तीसरी बात, पहले तुमने कहा था कि मेरा मोह चला गया (११ । १), पर यास्तममें तेरा मोह अभी नहीं गया है । तेरेको इस मोहको छोड़ देना चाहिये और निर्भय तथा प्रसन्न मनगल होकर मेरा वह देयरूप देखना चाहिये ।

तेरा और मेरा जो संगद है, यह तो प्रसन्नतासे, आनन्दरूपसे, लीनरूपसे होना चाहिये । इसमें भय और मोह विन्दुल नहीं होना चाहिये । मैं तेरे कहे अनुसार थोड़ा हँसता हूँ, बातें करता हूँ, विश्वरूप दिखाना हूँ, चतुर्भुजरूप दिगाता हूँ आदि सब कुछ करने-

पर भी तुने मेरेमें कोई विकृति देखी हे क्या * मेरेमें कुछ अंतर आया क्या, ऐसे ही मेरे विश्वरूपको देखकर तेरेमें भी कोई विकृति नहीं आनी चाहिये ।

हे अर्जुन ! तेरेको जो भय लग रहा है, वह शरीरमें अहता-ममता (मै-मोशपन) होनेसे ही लग रहा है अर्थात् अहता ममता-वाली चीज (शरीर) नष्ट न हो जाय, इसको लेकर तू भयभीन हो रहा है—यह तेरी मूर्खता है, अनजानपना है । इसको तू छोड़ दे । आज भी जिस-फिसीको जहाँ-वहाँ जिस-फिसीसे भी भय होता है, वह शरीरमें अहता ममता होनेसे ही होता है । शरीरमें अहता ममता होनेसे वह उत्पत्ति-विनाशशील वस्तु (प्राणों-) को रखना चाहता है । यही प्राणीकी मूर्खता है और यही आसुरी-सम्पत्तिका मूल है । परतु जो भगवान्की तरफ चलनेवाले हैं, उनका प्राणोंमें मोह नहीं रहता, प्रत्युत उनका सर्वत्र भगवद्भाव रहता है और, ए.कमात्र भगवान्में प्रेम रहता है । इस वास्ते वे अभय हो जाते हैं । उनका भगवान्की तरफ चलना दैवी-सम्पत्तिका मूल है । नृसिंहभगवान्के भयकर रूपको देखकर देवता आदि सभी डर गये, पर प्रह्लादजी नहीं डरे, क्योंकि प्रह्लादजीकी सर्वत्र भगवद्बुद्धि थी । इस वास्ते वे नृसिंह-भगवान्के पास जाकर उनके चरणोंमें गिर गये और भगवान्ने उनको उठाकर गोदमें ले लिया तथा उनको जीभसे चाटने लगे । -

● अपनेमें कई तरहका परिवर्तन देखनेपर भी अर्जुन सब अवस्थाओंमें भगवान्को निर्विकार ही मानते हैं, तभी तो उ होने गीताके आदि, मध्य तथा अन्तमें (गीता १ । २१, ११ । ४२ और १८ । ७३ में) भगवान्के लिये अच्युत सम्बोधनका प्रयोग किया है ।

‘व्यपेतभी प्रीतमना पुनस्त्वं तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य’— अर्जुनने पैतालीसवें श्लोकमें कहा था कि ‘भयेन च प्रव्यथित मनं मे’ अतः भगवान्ने ‘भयेन’ के लिये कहा है—‘व्यपेतभी’ अर्थात् तू भयरहित हो जा और ‘प्रव्यथित मन’ के लिये कहा है—‘प्रीतमना’ अर्थात् तू प्रसन्न मनवाला हो जा ।

भगवान्ने निराड्-रूपमें अर्जुनको जो चतुर्भुजरूप दिखाया था उसीके लिये भगवान् ‘पुनः’ पद देकर कह रहे हैं कि यही मे यह रूप तू अच्छी तरहसे देख ले ।

‘तदेव’ कहनेका तात्पर्य है कि तू देवरूप- (विष्णुरूप) साथ ब्रह्मा, शंकर आदि देवता और भयानक विध्वंसरूप नहीं देखना चाहता, केवल देवरूप ही देखना चाहता है, इस गारते वही रूप तू अच्छी तरहसे देख ले ।

अर्जुनकी प्रार्थनाके अनुसार भगवान् अभी जो रूप दिखाना चाहते हैं, उसके लिये भगवान्ने यहाँ ‘इदम्’ शब्दका प्रयोग किया है ।

संजय और अर्जुनकी दिव्यदृष्टि कबतक रही ?

‘संजयको वेद-याज्ञजिने’ युद्धके आरम्भमें दिव्यदृष्टि दी थी,* जिससे वे धृतराष्ट्रको युद्धके समाचार सुनाने रहे । परन्तु अन्तमें

- एष ते संजयो राजन्—युद्धमेतद् - यदिष्यति ।
एतस्य सर्वं उपमाने न परोक्षं भविष्यति ॥
चक्षुषा संजयो राजन् दिध्येतैष समन्वितः ।
कथयिष्यति ते युद्धं सर्वं गन्धं भविष्यति ॥

जब दुर्योधनकी मृत्युपर सजय शोकसे व्याकुल हो गये, तो सजयकी वह दिव्यदृष्टि चली गयी* ।

अर्जुनके द्वारा विश्वरूप दिखानेकी प्रार्थना करनेपर भगवान्ने अर्जुनको दिव्यदृष्टि दी—‘दिव्य दृशामि ते चक्षु पश्य मे योग-
मैश्वरम्’ (११।८) और अर्जुन त्रिराट्-रूप भगवान्के देयरूप, उग्ररूप आदि रूपोंके दर्शन करने लगे । जब अर्जुनके सामने अत्युग्र रूप आया तो वे डर गये और भगवान्की स्तुति प्रार्थना करते हुए कहने लगे कि ‘मेरा मन भयसे व्यथित हो रहा है, आप मेरेको वही चतुर्भुजरूप दिखाइये ।’ तब भगवान्ने अपना चतुर्भुज रूप दिखाया और फिर द्विभुजरूपसे हो गये । इससे सिद्ध होता है कि यहाँ- (उन्चासवें श्लोक-) तक ही अर्जुनकी दिव्यदृष्टि रही । इकपादनवें श्लोकमें स्वयं अर्जुनने कहा है कि ‘मैं आपके सौम्य मनुष्यरूपको देखकर सचेत हो गया हूँ और अपनी स्वाभाविक स्थितिको प्राप्त हो गया हूँ ।

यहाँ शङ्का होती है कि अर्जुन तो पहले भी व्यथित (व्याकुल) हुए थे—‘दृष्ट्वा लोका प्रव्यथितास्तथाहम्’ (११।२३), ‘दृष्ट्वा हि त्वा प्रव्यथितान्तरात्मा’ (११।२४), अतः यहाँ उनकी दिव्यदृष्टि चली जानी चाहिये थी : इसका समाधान यह है कि वहाँ अर्जुन इतने भयभीत नहीं हुए थे, जिनने यहाँ हुए हैं । यहाँ तो अर्जुन भयभीत होकर भगवान्को बार-बार नमस्कार करते

ॐ तत्र पुत्रे गते स्वर्गं शोकात्तस्य ममानव ।

श्रुतिदत्तं प्रणमन् दृष्ट्वा दिव्यदर्शित्वमद्य वै ॥

(महा० शीतिका० ९।६२)

हैं और उनसे चतुर्भुजरूप दिखानेके लिये प्रार्थना भी करते हैं (११ । ४५) । इस वास्ते यहाँ अर्जुनकी दिव्यदृष्टि चली जाती है ।

दूसरा कारण यह भी माना जा सकता है कि पहले अर्जुनकी विश्वरूप देखनेकी विशेष रचि (इच्छा) थी— 'द्रष्टुमिच्छामि ते रूपम्' (११ । ३) । इस वास्ते भगवान्ने अर्जुनको दिव्यदृष्टि दी, परन्तु यहाँ अर्जुनकी विश्वरूप देखनेकी रचि नहीं रही और वे भयभीत होनेके कारण चतुर्भुजरूप देखनेकी इच्छा करते हैं, इस वास्ते (दिव्यदृष्टिकी आवश्यकता न रहनेसे) उनकी दिव्यदृष्टि चली जाती है ।

अगर प्रजय और अर्जुन शोकसे, भयसे व्यथित (व्याकुल) न होते, तो उनकी दिव्यदृष्टि बहुत समयकर रहती और वे बहुत कुछ देख लेते । परन्तु शोक और भयसे व्यथित होनेके कारण उनकी दिव्यदृष्टि चली गयी । इसी तरहसे जब मनुष्य मोहसे ससारमें आसक्त हो जाता है तो भगवान्की दी हुई विवेकदृष्टि काम नहीं करती । जैसे, मनुष्यका रूपोंमें अधिक मोह होता है तो वह चोरी करने लग जाता है, फिर और मोह बढ़नेपर वह टफती करन लग जाता है नया अत्यधिक मोह बढ़ जानेपर वह रूपोंके लिये दूसरेकी हत्याकर देता है । इस प्रकार ज्यों-ज्यों मोह बढ़ता है, त्यों-ही-त्यों उसका विवेक काम नहीं करता । अगर मनुष्य मोहमें न पँसकर अपनी विवेकदृष्टिको मज्ज देता, तो वह अपना उद्धार करने समारम्भकर करनेवाला बन जाता ।

सम्बन्ध—

पूर्वश्लोकमें भगवान्ने अर्जुनको जिस रूपको देखनेके लिये आज्ञा दी, उसीके अनुसार भगवान् अपना विष्णुरूप दिखाते हैं— इसका वर्णन सजय अगले श्लोकमें करते हैं ।

श्लोक—

सजय उवाच

इत्यर्जुन वासुदेवस्तथोक्त्वा

स्वक रूप दर्शयामास भूय ।

आश्वासयामास च भीतिमेन

भूत्वा पुन सौम्यवपुर्महात्मा ॥ ५० ॥

अर्थ—

सजय कहते हैं—वासुदेव भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे ऐसा कहकर फिर उसी प्रकारसे अपना रूप (देयरूप) दिखाया और महात्मा श्रीकृष्णने पुन सौम्यवपु (द्विभुजरूप) होकर इस भयभीत अर्जुनको आश्वासन दिया ।

व्याख्या—

‘इत्यर्जुन वासुदेवस्तथोक्त्वा स्वक रूप दर्शयामास भूय’ —अर्जुनने जब भगवान्से चतुर्भुजरूप होनेके लिये प्रार्थना की, तो भगवान्ने कहा कि मेरे इस त्रिभुजरूपको देखकर तू व्यथित और भयभीत मत हो । तू प्रमत्त मनवाला होकर मेरे इस रूपको देव (११ । ४९) । भगवान्के इसी कथनको सजयने यहाँ ‘इत्यर्जुन वासुदेवस्तथोक्त्वा’ पदोंसे कहा है ।

‘तथा’ कहनेका तात्पर्य है कि जिस प्रकार कृपाके परवश होकर भगवान्ने अपना त्रिभुजरूप दिखाया था, उसी प्रकार कृपाके परवश

होकर भगवान्ने अर्जुनको चतुर्भुजरूप दिखाया । इस चतुर्भुजरूपको देखनेमें अर्जुनकी कोई साधना हो, योग्यता हो—यह बात नहीं है, प्रत्युक्त भगवान्की कृपा ही-कृपा है ।

‘भूय’ कहनेका तात्पर्य है जिस देवरूप-(चतुर्भुजरूप-)को अर्जुनने विश्वरूपके अन्तर्गत देखा था (११ । १५, १७) और जिसे दिखानेके लिये अर्जुनने प्रार्थना की थी (११ । ४५-४६), वही रूप भगवान्ने फिर दिखाया ।

‘आदवासयामास च भीतमेन भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा—
भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको पहले चतुर्भुजरूप दिखाया । फिर अर्जुनकी प्रसन्नताके लिये महात्मा भगवान् श्रीकृष्ण पुनः द्विभुजरूप (मनुष्यरूप-)से प्रकट हो गये और उन्होंने विश्वरूपको देवकी भयभीत हुए अर्जुनको आश्वासन दिया ।

भगवान् श्रीकृष्ण द्विभुज थे या चतुर्भुज ? इसका उत्तर है कि भगवान् हरदम द्विभुजरूपसे ही रहते थे, पर भक्त और उनके भावानुसार समय समयपर जहाँ उचित समझते थे, वहाँ चतुर्भुजरूप हो जाते थे ।

दसमें और ग्यारहवें अध्यायमें भगवान्ने अपनी विभूतियोंका वर्णन करनेमें भी अपनी महत्ता, प्रभाव, सामर्थ्यकी बनाया है और अपने अत्यन्त शिष्यभगः विश्वरूपको दिखानेमें भी अपने प्रभावको बताया है, जिसने मनुष्य भगवान्के ऐसे महान् प्रभावको जान ले क्षय मान ले, तो उसका नमामें आकर्षण नहीं रहे । यह सदाके लिये मसारम्भसे रूट जाय ।

अर्जुनपर भगवान्की कितनी अद्भुत कृपा है, जिससे भगवान्ने पहले विश्वरूप दिखाया, फिर देगरूप (चतुर्भुजरूप) दिखाया और फिर मानुषरूप (द्विभुजरूप) हो गये । इसके साथ-साथ भगवान्ने हम-लोगोंपर भी कितनी अलौकिक विलक्षण कृपा की है कि जहाँ-कहाँ जिस किसी विशेषताको लेकर हमारा मन चला जाय, वहीं हम भगवान्का चिन्तन कर सकते हैं और भगवान्के विश्वरूपका पठन-पाठन, चिन्तन कर सकते हैं । इस भयंकर समयमें हमें भगवान्की विभूतियों तथा विश्वरूपके चिन्तन आदिना जो मौका मिला है, इसमें हमारा उद्योग, योग्यता कारण नहीं है, प्रयुक्त भगवान्की कृपा ही कारण है । भगवान्की इस कृपाको देखकर हमें प्रसन्न हो जाना चाहिये । इन विभूतियोंको सुनने और विश्वरूपके चिन्तन-स्मरणका मौका तो उस समय भी सजय आदि बहुत थोड़े लोगोंको ही मिला था । वही मौका आज हमें प्राप्त हुआ है । इस वास्ते हमें ऐसे मौकोंको व्यर्थ नहीं जाने देना चाहिये ।

सम्यग्—

भगवान् मनुष्यरूप होकर जब अर्जुनको आश्वासन दिया,
तब अर्जुन बोले—

श्लोक—

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वा मानुष रूप तव सौम्य जनार्दन ।

इदानीमस्मि सर्व्वे सन्वेता प्रवृत्ति गत ॥ ५१ ॥

अर्थ—

अर्जुन बोले—हे जनार्दन ! आपके इस सौम्य मानुषरूपको

देखकर मैं इस समय स्थिरचित्त हो गया हूँ और अपनी स्वाभाविक स्थितिको प्राप्त हो गया हूँ ।

व्याख्या—

‘दृष्ट्वेद मानुष रूप तव सौम्य जनार्दन’—आपके मनुष्यरूपमें प्रकट होकर लीला करनेवाले रूपको देखकर गायें, पशु-पक्षी, वृक्ष, लताएँ आदि भी पुलकित हो जाती हैं*, ऐसे सौम्य दिगुज रूपको देखकर मैं होशमें आ गया हूँ, मेरा चित्त स्थिर हो गया है—‘इदानीमस्मि सवृत्त सचेता’ । त्रिराटरूपको देखकर जो मैं भयभीत हो गया था, वह सब भय अत्र मिट गया है, सत्र व्यथा चली गयी है और मैं अपनी वास्तविक स्थितिको प्राप्त हो गया हूँ—‘प्रकृतिं गतः’ ।

यहाँ ‘सचेता’ कहनेका तात्पर्य है कि जत्र अर्जुनकी दृष्टि भगवान्की कृपाकी तरफ गयी तो अर्जुनको होश आया और वे सोचने लगे कि कहाँ तो मैं और कहाँ भगवान्का विस्मयकारक त्रिराटरूप ! इसमें मेरी कोई योग्यता, अप्रिकल्पिता नहीं है । इसमें तो केवल भगवान्की कृपा ही-कृपा है । भगवान्की इस कृपाका कोई पार नहीं पा सकता, ऐसा समझकर मैं स्थिरचित्त हो गया हूँ ।

सम्बन्ध—

अर्जुनकी कृतज्ञताका अनुमोदन करते हुए भगवान् कहते हैं—

● प्रज्ञोदयसीभगमिदं च निरीक्ष्य रूप

यद्गोविन्दमुद्भूयान् पुलकान्यचिश्चर ॥

(भीमद्वारा १० । २९ । ४०)

श्लोक—

श्रीभगवानुवाच

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम ।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः ॥ ५२ ॥

अर्थ—

श्रीभगवान् बोले—मेरा यह जो रूप तुमने देखा है, इसके दर्शन अयन्त ही दुर्लभ हैं । इस रूपको देखनेके लिये देवता भी नित्य लालापित रहते हैं ।

व्याख्या—

‘सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम’—यहाँ ‘सुदुर्दर्शम्’ पद चतुर्भुजरूपके लिये ही आया है, त्रिराटरूप या द्विभुजरूपके लिये नहीं । कारण कि त्रिराटरूपकी तो देवता भी कल्पना क्यों करने लगे । ओर मनुष्यरूप जब मनुष्योंके लिये सुलभ था, तो देवताओके लिये यह दुर्लभ कैसे होना । इस गारते ‘सुदुर्दर्शम्’ पदसे क्षीरसागरमें रहनेवाले त्रिगुण भगवान्का चतुर्भुजरूप ही लेना चाहिये, जिसके लिये ‘देव रूपम्’ (११ । ४५) और ‘स्वरूपम्’ पद आये हैं ।

‘देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः’—भगवान्ने यहाँ कहा है कि मेरा यह जो चतुर्भुजरूप है, इसके दर्शन बडे ही दुर्लभ हैं । अगले तिरपनमें चौपनमें श्लोकोंमें कहा है कि इस चतुर्भुजरूपके दर्शन वेद, यज्ञ, तप, दान आदि साधनोंसे नहीं हो सकते, प्रयुक्त इसके दर्शन तो अनन्यभक्तिसे ही हो सकते हैं । अब यहाँ एक शङ्का होती है कि देवता भी इस रूपके दर्शनको निय आकाङ्क्षा (लालसा)

रखते हैं । फिर उनको दर्शन क्यों नहीं होते । जयकि भगवान्‌के दर्शनकी नित्य लालसा रहना अनन्यभक्ति ही है । इसका समागत यह है कि वास्तवमें देवताओंकी नित्य लालसा अनन्यभक्ति नहीं है ।

नित्य लालसा रखनेका तात्पर्य होता है कि नित्य निरन्तर एक परमात्माकी ही लालसा लगी रहे और दूसरी कोई लालसा न रहे । ऐसी लालसावाला दुराचारी-से-दुराचारी मनुष्य भी भगवान्‌का भक्त हो जाता है और उसे भगवत्प्राप्ति हो जाती है । परन्तु ऐसी अनन्य लालसा देवताओंकी नहीं होती, क्योंकि वे भोग भोगनेके लिये ही देवता बने हैं और उनका भोग भोगनेका ही उद्देश्य होता है । तो फिर उनकी लालसा कैसी होनी है ? जैसी लालसा (इच्छा) प्रायः सभी आत्मिक मनुष्योंमें रहती है कि 'हमारेको भगवान्‌के दर्शन हो जायँ, हमारा कल्याण हो जाय ।' उनकी ऐसी इच्छा तो रहती है, पर भोग और सम्रहकी रुचि ज्यों-की-त्यों बनी रहती है । तात्पर्य है कि जैसे मार्ग में चलते हुए किसीको मगि मिल जाय, ऐसे ही गौणतासे हमारी मुक्ति हो जाय तो अच्छी बात है—इस प्रकार जैसे मनुष्योंमें मुक्तिकी इच्छा गौण होती है, ऐसे ही भगवान् दर्शन दें तो हम भी दर्शन कर लें—इस प्रकार देवताओंमें दर्शनकी इच्छा गौण होनी है ।

देवतालोग 'हम इतने ऊँचे पदपर हैं, हमारे लोक, शरीर और भोग दिव्य हैं, हम बड़े पुण्यशाली हैं, अब हमें भगवान्‌के दर्शन होना चाहिये'—ऐसी कोरी इच्छा ही करते हैं, इसलिये उनको कभी दर्शन होंगे नहीं । कारण कि उनके देवत्व, पद आदिका अभिमान है । अभिमानसे, पद आदिके बलमें भगवान्‌के दर्शन नहीं हो सकते ।

● मार्गें प्रपातां मगिनाभयन्य लभे मोक्षो यदि तर्हि नय ।

इस रास्ते अर्जुनने दसवें अध्यायके चोदहवें श्लोकमें कहा है कि 'हे भगवान् । आपके प्रकृत होने तो देवता और दानव भी नहीं जानते ।' इस प्रकार अर्जुनने भगवान्‌को न जाननेमें देवताओ और दानवोंको एक श्रेणीमें लिया है । इसका तात्पर्य यही है कि जैसे देवताओंके पास वैभवं है, ऐसे ही दानवोंके पास विचित्र-विचित्र माया है, सिद्धियाँ हैं, पर उनके बलपर वे भगवान्‌को नहीं जान सकते । ऐसे ही दानवा भगवान्‌के दर्शनकी लालसा भी रखें, तो भी उनको देवत्व-शक्तिसे दर्शन नहीं हो सकते, क्योंकि भगवान्‌के दर्शनमें देवत्व कारण नहीं । तात्पर्य है कि भगवान्‌को न तो देवत्व-शक्तिसे देखा जा सकता है और न यज्ञ, तप, दान आदि शुभ कर्मोंमें ही देखा जा सकता है (११ । ५३) । उनको तो अनन्यभक्तिसे ही देखा जा सकता है (११ । ५४) । अनन्यभक्तिसे देवता और मनुष्य—दोनों ही भगवान्‌को देव सकते हैं ।

वास्तवमें देवताओकी लालसा भोग भोगनेकी ही रहती है । वे रात-दिन अपने पुण्यकर्मोंका फल भोगनेमें लगे रहते हैं अर्थात् भोगोंमें ही लित रहते हैं । इस रास्ते उनके पास भगवान्‌को याद करनेके लिये वक्त ही नहीं है । वे तो केवल इच्छा ही करते रहते हैं, जिसकी कभी पूर्ति होनेवाली है ही नहीं । तात्पर्य यह हुआ कि शुभ कर्मोंसे, यज्ञसे, योग्यतासे, बलसे भगवान् नहीं मिलते । भगवान्‌के दर्शनमें यह प्राकृत महत्त्व कुछ भी मूल्य नहीं रखता ।

सम्यग्—

पूर्वश्लोकमें कही हुई बातको ही भगवान् अगले श्लोकमें पुष्ट करते हैं ।

श्लोक—

नाह वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।

शक्य एवविधो द्रष्टु दृष्टवानसि मा यथा ॥ ५३ ॥

अर्थ—

जिस प्रकार तुमने मरेको देखा है, इस प्रकारका (चतुर्भुज-रूपवाला) मैं न तो वेदोंसे, न तपस्यासे, न दानसे और न यज्ञसे ही देखा जा सकता हूँ ।

व्याख्या—

‘दृष्टवानसि मा यथा—तुमने मेरा चतुर्भुजरूप मेरी दृष्टासे ही देखा है । तापर्य है कि मेरे दर्शन मेरी दृष्टासे ही हो सकते हैं, किसी योग्यतासे नहीं ।’

‘नाह वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया शक्य एवविधो द्रष्टुम्’—यह एक सिद्धातर्मा बात है कि जो चीज किसी मूल्यसे खरीदी जाती है, वह चीज उस मूल्यसे कम मूल्यकी ही होती है । जैसे, कोई दूकानदार एक बड़ी सौ रुपयेमें बेचना है, तो उसने वह बड़ी कम मूल्यमें ली है, तभी तो वह सौ रुपयेमें देना है । इसी तरह अनेक वैशेषिक अन्वयन करनेपर, बहुत बड़ी तपस्या करनेपर, बहुत बड़ा दान देनेपर तथा बहुत बड़ा यज्ञ-अनुष्ठान करनेपर भगवान् मित्र जायेंगे—एसी बात नहीं है । कितनी ही महान् किया क्यों न हो, कितनी ही योग्यता सम्पन्न क्यों न की जाय, पर उसके द्वारा भगवान् खरीदे नहीं जा सकते । वे सत्य-सत्य मित्रकर भी भगवत्प्राप्तिका मूल्य नहीं हो सकते । उनके द्वारा भगवान्पर अस्मिन् नही जनाया जा सकता

अर्जुनने इमी अध्यायके तैत्तलीसवें श्लोकमें साफ कहा है कि त्रिलोकी-में आपके समान भी कोई नहीं है फिर आपसे अधिक हो ही कैसे सकता है ? तात्पर्य है कि आपसे अधिक हुए बिना आपपर अधिकार नहीं किया जा सकता ।

सासारिक चीजोंमें तो अधिक योग्यतावाला कम योग्यतावालेपर आधिपत्य कर सकता है, अधिक बुद्धिमान् कम बुद्धिवालेपर अपना रोब जमा सकता है, अधिक धनवान् निर्धनोपर अपनी अधिकता प्रकट कर सकता है । परन्तु भगवान् किमो बल, बुद्धि, योग्यता, व्यक्ति, वस्तु आदिसे खरीदे नहीं जा सकते । कारण कि जिस भगवान्के सकल्पमात्रसे तत्काल अनंत ब्रह्माण्डकी रचना हो जाती है, उसे एक ब्रह्माण्डके भी किसी अंशमें रहनेवाले किसी वस्तु, व्यक्ति आदिसे कैसे खरीदा जा सकता है । तात्पर्य यह है कि भगवान्की प्राप्ति केवल भगवान्की कृपासे ही होती है । वह कृपा तब प्राप्त होती है, जब मनुष्य अपनी सामर्थ्य, समय, समझ, सामग्री आदिको भगवान्के सर्वथा समर्पित करके अपनेमें सर्वथा निर्वलता, अयोग्यताका अनुभव करता है अर्थात् उसमें अपने बल, योग्यता आदिका किञ्चिन्मात्र भी अभिमान नहीं रहता । इस प्रकार जब वह सर्वथा निर्वल होकर अपने-आपको भगवान्के सर्वथा समर्पित करके अनन्यभावे भगवान्को पुकारता है, तो भगवान् तत्काल प्रकट हो जाते हैं । कारण कि जबतक मनुष्यके अन्तःकरणमें प्राकृत वस्तु, योग्यता, बल, बुद्धि आदिका महत्त्व और सहारा रहता है, तबतक भगवान् अन्यन्त नजदीक होनेपर भी दूर-दीखते हैं ।

इस श्लोकमें जो दुर्भगता बतायी गयी है, यह चतुर्भुजरूपके लिये ही बतायी गयी है, विद्वरूपके लिये नहीं। अगर इसको भिन्न रूपमें लिये ही मान लिया जाय तो पुनरुक्ति-दोष आ जायगा, क्योंकि पहले अड़तालीसवें श्लोकमें विश्वरूपकी दुर्लभता बतायी जा चुकी है। दूसरी बात, अगले श्लोकमें भगवान्ने अनन्यभक्तिसे अपनेको देखा जाना शक्य बताया है। विद्वरूपमें अनन्यभक्ति हो ही नहीं सकती क्योंकि अर्जुन-जैसे शूरीर भगवान्से दिव्यदृष्टि प्राप्त करने भी विद्वरूपको देखकर भयभीत हो गये, तो उस रूपमें अनन्यभक्ति, अनन्यप्रेम, आकर्षण कैसे हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता।

सम्बन्ध—

जब कोई किसी साधनसे, किसी योग्यतासे, किसी सामग्रीसे आपको प्राप्त नहीं कर सकता तो फिर आप कैसे प्राप्त किये जाते हैं ? इसका उत्तर भगवान् अगले श्लोकमें देते हैं।

श्लोक—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य महमेवविधोऽर्जुन ।
शातु द्रष्टु च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परतप ॥ ५४ ॥

अर्थ—

परतु हे शत्रुनाम्न अर्जुन ! इम प्रकार (चतुर्भुजरूपप्राप्त) में अनन्यभक्तिसे ही तत्त्वेसे जाननेमें, सगुणरूपसे देखनेमें और प्राप्त करनेमें शक्य हैं।

व्याख्या—

‘भक्त्या त्वनन्यया शक्य महमेवविधोऽर्जुन’—यहाँ ‘तु’ पद पहले बताये हुए सामग्रीसे विशुद्ध साधन बनानेके लिये आया

है। भगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन ! तुमने मेरा जैसा शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मधारी चतुर्भुजरूप देखा है, वैसा रूपगाला मैं यज्ञ, दान, तप आदिके द्वारा नहीं देखा जा सकता, प्रत्युत अनन्यभक्तिके द्वारा ही देखा जा सकता हूँ।

अनन्यभक्ति का अर्थ है—केवल भगवान् का ही आश्रय हो, सहारा हो, आशा हो, निश्वास हो*। भगवान् के सिवाय किसी योग्यता, बल, बुद्धि आदिका किञ्चिन्मात्र भी सहारा न हो। इनका अतः ऋणमे किञ्चिन्मान भी महत्त्व न हो। यह अनन्यभक्ति स्वयसे ही होती है, मन-बुद्धि-इन्द्रियों आदिके द्वारा नहीं। तात्पर्य है कि केवल स्वयकी व्याकुलतापूर्वक उत्कण्ठा हो। भगवान् के दर्शन बिना एक क्षण भी चैन न पड़े। ऐसी जो भीतरमें स्वयकी वेचैनी है, वही भगवत्प्राप्तिमें खास कारण है। इस वेचैनीमें, व्याकुलतामें अतन्त जन्मोंके अनन्त पाप भस्म हो जाते हैं। ऐसी अनन्यभक्ति-वालेके लिये ही भगवान् ने कहा है—‘जो अनन्यचित्तगाला भक्त निन्ध-निरन्तर मेरा चिन्तन करना है, उसके त्रिये मैं सुलभ हूँ’ (गीता ८। १४), और ‘जो अनन्यभक्त मेरा चिन्तन करते हुए

* एक भरोसो एरु रल एरु आस रिक्वास।

एक राम धन स्याम नित चातरु नुल्लखीदास ॥

(दोहावली २७७)

एक जानि करनानिधान श्री। सो प्रिय जाई गति न अनकी ॥

(मानस ३। ९। ४)

उपासना करते हैं, उनका योगक्षेम में बहन करता हूँ
(गीता ९ । २२)

अनन्यभक्तिका दूसरा तात्पर्य यह है कि अपनेमें मजन-स्मरण करनेका, साधन करनेका, उत्कण्ठापूर्वक पुकारनेका जो कुछ सहारा है, वह सहारा किञ्चिन्मात्र भी न हो । फिर साधन किसविधे करना है ? केवल अपना अभिमान मिटानेके विषय अर्थात् अपनेमें जो करनेके बन्धका मान होता है, उसको मिटानेके लिये ही साधन करना है । तात्पर्य है कि भगवान्की प्राप्ति साधन करनेसे नहीं होती, प्रत्युत साधनका अभिमान गठनेसे होती है, साधनका अभिमान गल जानेसे साधकपर भगवान्की शुद्ध कृपा असर करती है अर्थात् उस कृपाके आनेमें कोई आड़ नहीं रहती और (उस कृपासे) भगवान्की प्राप्ति हो जाती है ।

‘शतु द्रष्टु च तत्त्वेन प्रवेष्टुम्’—एसी अनन्यभक्तिसे ही मैं तरसे जाने जा सकता हूँ, अनन्यभक्तिसे ही मैं देखा जा सकता हूँ और अनन्यभक्तिसे ही मैं प्राप्त किया जा सकता हूँ ।

ज्ञानके द्वारा भी भगवान् तरसे जाने जा सकते हैं और प्राप्त किये जा सकते हैं, पर दर्शन देनेके विषये भगवान् शक्य नहीं हैं* ।

‘मातुम् करनेका तात्पर्य है कि मैं जैसा हूँ, वैसा-ना-वैसा जाननेमें आ जाता हूँ । जाननेमें आनेवाया यह अर्थ नहीं है कि मैं

* भगवान् नामभिजाति विषय-वैधानिक तरसे ।

ततो मां तत्त्वता शक्यं विदते तन्न तरम् ॥

उसकी बुद्धिमें अन्तर्गत आ जाता है, प्रत्युत उसकी जाननेकी शक्ति मेरेसे परिपूर्ण हो जाती है। तात्पर्य है कि वह मेरेको 'वासुदेव सर्वम्' (गीता ७ । १९) और 'सदमच्छाहम्' (गीता ९ । १९) —इस तरह ग्रास्तमिक तन्त्रसे जान लेता है।

'ब्रह्मम्' कहनेका तात्पर्य है कि वह सगुणरूपसे अर्थात् विष्णु, राम, कृष्ण आदि जिस किसी भी रूपसे देखना चाहे मेरेको देख सकता है।

'प्रवेष्टुम्' कहनेका तात्पर्य है कि वह भगवान्के साथ अपने-आपकी अभिन्नताका अनुभव कर लेता है अथवा उसका भगवान्की नित्यलीलामें प्रवेश हो जाता है। नित्यलीलामें प्रवेश होनेमें भक्तकी इच्छा और भगवान्की मर्जी ही मुख्य होती है। यद्यपि भगवान्के सर्वथा शरण होनेपर भक्तकी सब इच्छाएँ समाप्त हो जाती हैं, तथापि भगवान्की यह एक विलक्षणता है कि भक्तकी लीगमें प्रवेश होनेकी जो इच्छा रही है, उसको भगवान् पूरी कर देते हैं। केवल पारमार्थिक इच्छाको ही पूरी करते हों, ऐसी बात नहीं है, किन्तु भक्तकी पहले जो सासारिक यत्किञ्चित् इच्छा रही हो, उसको भी भगवान् पूरी कर देते हैं। जैसे, भगवद्दर्शनसे पूर्वकी इच्छाके अनुसार धुरजीको छत्तीस हजार वर्षका गज्य मित्र और विभीषणको एक कल्पका। तात्पर्य यह हुआ कि भगवान् भक्तकी इच्छाको पूरी कर देते हैं और फिर अपनी मर्जीके अनुसार उसे ग्रास्तमिक

पूर्णताकी प्राप्ति करा देते हैं, जिससे भक्तके लिये कुछ भी करना, जानना और पाना शेष नहीं रहता ।

विशेष बात

भक्तकी खुदकी जो उत्कट अभिलाषा है, उस अभिलाषामें ऐसी ताकत है कि वह भगवान्में भी भक्तसे मिलनेकी उत्कण्ठा पैदा कर देती है ! भगवान्की इस उत्कण्ठामें बाधा देनेकी किस्मिमें भी सामर्थ्य नहीं । अनन्त सामर्थ्यशाली भगवान्की जब भक्तकी तरफ कृपा उमड़ती है, तो वह कृपा भक्तके सम्पूर्ण विनोक्तो दूर करके, भक्तकी योग्यता-अयोग्यताको किञ्चिन्मात्र भी न देखती हुई भगवान्को भी परमेश कर देती है, जिससे भगवान् भक्तके सामने तत्काल प्रकट हो जाते हैं ।

सम्बन्ध—

अथ भगवान् अगले श्लोकमें अनन्यभक्तिके साधनोंका वर्णन करते हैं ।

श्लोक—

मत्कर्मवृत्तमपरमो मद्रक्त मद्भवर्जित ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु य न मामेति पाण्डय ॥ ५५ ॥

अर्थ—

हे पाण्डव ! जो मेरे लिये ही कर्म करनेवाला, मेरे ही परायण और मेरा ही भक्त है तथा सर्वथा आनन्दित और प्राणिमानके साथ निर्वैर है, वह भक्त मेरेको प्राप्त हो जाता है ।

ब्याख्या—

[इस श्लोकमें पाँच बातें आयी हैं । इन पाँचोंको 'साधनपञ्चक' भी कहते हैं । इन पाँच बातोंके दो विभाग हैं—(१) भगवान्के साथ घनिष्ठता और (२) ससारके साथ सम्बन्ध-विच्छेद । पहले विभागमें 'मत्कर्मकृत्', 'मत्परम' और 'मद्भक्त'—ये तीन बातें हैं, और दूसरे विभागमें 'सङ्गचर्जित' और 'निर्वैर सर्वभूतेषु'—ये दो बातें हैं ।

'मत्कर्मकृत्'—जो जप, कीर्तन, ध्यान, सत्सङ्ग, स्वाध्याय आदि भगवान्मन्वन्ती कर्मोंको और वर्ण, आश्रम, देश, काल, परिस्थिति आदिके अनुसार प्राप्त लौकिक कर्मोंको केवल मेरे लिये ही अर्थात् मेरी प्रसन्नताके लिये ही करता है, वह 'मत्कर्मकृत्' है ।

वास्तवमें देखा जाय तो कर्मके पारमार्थिक और लौकिक—ये दो बाह्यरूप होते हैं, पर भीतरमें 'सर्व कर्म केवल भगवान्के लिये ही करने हैं'—ऐसा एक ही भाव रहता है, एक ही उद्देश्य रहता है । तात्पर्य यह हुआ कि भक्त शरीर इन्द्रियों-मन-बुद्धिसे जो कुछ भी कर्म करता है, वह सब भगवान्के लिये ही करता है । कारण कि उसके पास शरीर, मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, योग्यता, करनेकी सामर्थ्य, समझ आदि जो कुछ है, वह सब-का-सब भगवान्का ही दिया हुआ है और भगवान्का ही है, तथा वह स्वयं भी भगवान्का ही है । वह तो केवल भगवान्की प्रसन्नताके लिये, भगवान्की आज्ञाके अनुसार भगवान्की दी हुई शक्तिसे निमित्तमात्र बनकर कार्य करता है । यही उसका 'मत्कर्मकृत्' होना है ।

‘मत्परम’—जो मेरेको ही परमोत्कृष्ट समझकर केवल मेरे ही परायण रहता है अर्थात् जिसका परम प्रापणीय, परम ध्येय, परम आश्रय केवल मैं ही हूँ, ऐसा भक्त ‘मत्परम’ है ।

‘मद्भक्त’—जो केवल मेरा ही भक्त है अर्थात् जिसने मेरे साथ अश्ल सम्बन्ध जोड़ लिया है कि ‘मैं केवल भगवान्‌का हूँ और केवल भगवान् ही मेरे हैं, तथा मैं अन्य किसीका नहीं हूँ और अन्य कोई भी मेरा नहीं है ।’ ऐसा होनेसे भगवान्‌में अनिशय प्रेम हो जाना है, क्योंकि जो अपना होता है, वह स्वतः प्रिय लगता है । प्रेमकी जागृतिमें अपनापन ही मुख्य है ।

वह भक्त सत्र देशमें, सत्र कालमें, सम्पूर्ण वस्तु-व्यक्तियोंमें और अपने-आपमें सदा-सर्वदा प्रभुको ही परिपूर्ण देखता है । इस दृष्टिसे अमु सत्र देशमें होनेसे यहाँ भी है, सत्र कालमें होनेसे अभी भी है, सम्पूर्ण वस्तु-व्यक्तियोंमें होनेसे मेरेमें भी है और सत्रके होनेसे मेरे भी हैं—ऐसा भाव रखनेवाला ही ‘मद्भक्त’ है ।

‘सङ्गवर्जित’, निर्भर सर्वभूतेषु य’—केवल भगवान्‌के लिये ही कर्म करनेसे, केवल भगवान्‌के ही परायण रहनेसे और केवल भगवान्‌का ही भक्त बननेसे क्या होता है ? इसका उपर्युक्त पदोमें वर्णन करने हैं कि यह ‘सङ्गवर्जित’ हो जाता है अर्थात् उसकी मन्तरमें शक्ति-मत्ता और कामना नहीं रहती । आत्मिक, ममता और कामनासे ही सत्कारके साथ सम्बन्ध होना है । भगवान्‌में अनय प्रेम होने ही आसक्ति आदि का उत्पन्न कारण हो जाता है ।

दूसरी बात, जब भक्तको 'मै भगवान्‌का ही अश हूँ'—इस वास्तविकताका अनुभव हो जाता है, तो उसका भगवान्‌में प्रेम जाप्रत् हो जाता है । प्रेम जाप्रत् होनेपर रागका अत्यन्त अभाव हो जाता है । रागका अत्यन्त अभाव होनेसे और सर्वत्र भगवद्भाव होनेसे* उसके शरीरके साथ कोई कितना ही दुर्व्यवहार करे, उसको मारे-पीटे, उसका अनिष्ट करे, तो भी उसके हृदयमें अनिष्ट करनेवालेके प्रति किञ्चिन्मात्र भी वैरभाव उत्पन्न नहीं होता । वह उसमें भगवान्‌की ही मरजी, कृपा मानता है । ऐसे भक्तको भगवान्‌ने 'निर्वैर सर्वभूतेषु' कहा है ।

'सङ्गवर्जित' और 'निर्वैर सर्वभूतेषु'—इन दोनोंका वर्णन करनेका तात्पर्य 'उसका सारासे सर्वत्र सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है' यह बतानेमें है । सारासे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर स्वतन्त्र मिद्ध परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है ।

'स मामेति'—ऐसा वह मेरा भक्त मेरेको ही प्राप्त हो जाना है । 'स मामेति' में तत्त्वने जानना, दर्शन करना और प्राप्त होना—ये तीनों ही बातें आ जाती हैं, जो कि पिछले (चौथनेमें) श्लोकमें बतायी गयी हैं । तात्पर्य है कि जिस उद्देश्यसे मनुष्यजन्म हुआ है वह उद्देश्य सर्वथा पूर्ण हो जाता है ।

* उमा जे राम चरन रत रिगत काम मद क्रोध ।

निज प्रभुमय देलहि जगत नेहि सन करहि विरोध ॥

(मानस ७ । ११२ स)

श्रीभगवान् ने नवें अध्यायके अन्तमें कहा था—मन्मना भव मद्रक्तो मद्याजी मानमस्कुरु । मामेवैष्यसि युक्तवैवमात्मान मत्परायण ॥ (९ । ३४) । ऐसा कहनेपर भी भगवान् के मनमें यह बात रह गयी कि मैं अपने रहस्यकी सत्र बात किम तरहमे, किस रीतिसे समझाऊँ ? इसीको समझानेके लिये भगवान् ने दसवें और ग्यारहवें अध्याय कहा है ।

जीवने उत्पत्ति-विनाशशील और निरन्तर परिवर्तनशील प्रकृति और प्रकृतिके कार्य शरीर-संसारका महारा ले रखा है, जिससे यह अविनाशी और निरन्तर अपरिवर्तनशील भगवान् से विमुख हो रहा है । इस विमुखताको मित्रकर जीवको भगवान् के सम्मुख करनेमें ही इन दोनों अध्यायोंका तापर्य है ।

इस मनुष्यके पास दो शक्तियाँ हैं—चिन्ता करनेकी और देखनेकी । इनमेंसे जो चिन्तन करनेकी शक्ति है, उसको भगवान् की विभूतियोंमें लगाना है । तापर्य है कि जिन किसी वस्तु, व्यक्ति वादिके जो कुछ विशेषता, गूढ़ता, निरुक्षणता, अशुद्धि-रहितता दीये और उनमें मत्त चयन जाय, उस विशेषता आदिके भगवान् की ही गानना रहौं भगवान् का ही चिन्तन होना चाहिये । इसके लिये भगवान् ने दसवाँ अध्याय कहा है ।

दूसरी जो देखनेकी शक्ति है, उससे भगवान् में लगाना चाहिये । तापर्य है कि जैसे भगवान् के दिव्य अविनाशी सार-रूपमें

अनेक रूप हैं, अनेक आकृतियाँ हैं, अनेक तरहके दृश्य हैं, ऐसे ही यह सत्ता भी उस त्रिरात्ररूपका ही एक अङ्ग है और इसमें अनेक नाम, रूप, आकृति आदिके रूपमें परमात्मा ही परमात्मा परिपूर्ण है। इस दृष्टिसे सत्ताको परमात्मस्वरूप देखे। इसके लिये भगवान् ने ग्यारहवाँ अध्याय कहा है।

अर्जुनने भी इन दोनों दृष्टियोंके लिये दो बार प्रार्थना की है। इसमें अध्यायके मंत्रहमें श्लोकमें अर्जुनने कहा कि 'हे भगवन्! मैं किन-किन भावोंमें आपका चिन्तन करूँ?' तो भगवान् ने चिन्तन-शक्तिको लगानेके लिये अपनी विभूतियोंका वर्णन किया। ग्यारहवें अध्यायके आरम्भमें अर्जुनने कहा कि 'मैं आपके रूपको देखना चाहता हूँ, तो भगवान् ने अपना विश्वरूप दिखाया और उसको देखनेके लिये अर्जुनको दिव्यचक्षु दिये।

तात्पर्य यह हुआ कि साधकको अपनी चिन्तन और दर्शनशक्तिको भगवान् के सिवाय दूसरी किमी भी जगह खर्च नहीं करनी चाहिये अर्थात् साधक चिन्तन करे तो परमात्माका ही चिन्तन करे और जिस किसीको देखे तो उसको परमात्मस्वरूप ही देखे।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विश्वरूपदर्शनयोगो
नामैकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

इस प्रकार ॐ, तत्, सत्—इन भगवन्नामोंके उच्चारणपूर्वक ब्रह्मविद्या और योगशास्त्रमय श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्रूप श्रीकृष्णार्जुनसंवादमें 'विश्वरूपदर्शनयोग' नामक ग्यारहवाँ अध्याय पूर्ण हुआ ॥ ११ ॥

अजुनने भगवान् से दिव्यदृष्टि प्राप्त करके भगवान् के जिस निश्चिन्तनके दर्शन किये थे, उसके वर्णनको पढ़-सुनकर भावान् के प्रभावको मान लेनेसे भगवान् के साथ योग- (सम्बन्ध-) का अनुभव हो जाता है । इस नास्ते ग्यारहवें अध्यायका नाम 'निश्चिन्तनदर्शन योग' है ।

ग्यारहवें अध्यायके पद, अक्षर एवं उवाच

(१) इस अध्यायमें 'अथैकादशोऽध्यायः' के तीन, उवाचके वाङ्म, श्लोकोंके आठ सौ इक्यवन और पुष्पिकुके तेरह पद हैं । इस प्रकार सम्पूर्ण पदोंका योग आठ सौ नवामी है ।

(२) 'अथैकादशोऽध्यायः' में सत्त, उवाचमें सत्तर, श्लोकोंमें दो हजार एक सौ तिरानवे और पुष्पिकामें पचास अक्षर हैं । इस तरह सम्पूर्ण अक्षरोंका योग दो हजार तीन सौ बीस है । इस अध्यायके उन्नीस श्लोक बत्तीस अक्षरोंके, एक श्लोक तैंतीस अक्षरोंका और छत्तीस श्लोक चौबीस अक्षरोंके हैं ।

(३) इस अध्यायमें ग्यारह उवाच हैं—चार 'अर्जुन उवाच', चार 'श्रीभगवानुवाच' और तीन 'सन्नय उवाच' ।

ग्यारहवें अध्यायमें प्रयुक्त छन्द

इस अध्यायके प्रथम श्लोक है । उन्में उन्नीस श्लोक 'अनुष्टुप्' छन्दके, तीन श्लोक 'उपेन्द्रपदा' छन्दके और तैंतीस श्लोक 'उपगति' छन्दके हैं ।

‘अनुष्टुप्’ छन्दवाले उन्नीस श्लोकोंमेंसे—पहले और पचपनवें श्लोकके प्रथम चरणमें ‘भगण’ प्रयुक्त होनेसे ‘भ विपुला’, ग्यागहवें और तिरपनवे श्लोकके प्रथम चरणमें ‘नगण’ प्रयुक्त होनेसे ‘न विपुला’ और दसवें श्लोकके प्रथम चरणमें ‘नगण’ तथा तृतीय चरणमें ‘भगण’ प्रयुक्त होनेसे ‘सकीर्ण-विपुला’ छन्दवाले श्लोक हैं । शेष चौदह (२-९, १२-१४, ५१-५२, ५४) श्लोक ठीक ‘पध्यावक्त्र’ अनुष्टुप् छन्दके लक्षणोंसे युक्त हैं ।

शेष उत्तीस श्लोकोंमेंसे—अष्टाईसवाँ, उत्तीसवाँ और पैतालीसवाँ श्लोक ‘उपेन्द्रवक्त्र’ तथा शेष तैंतीस (१५-२७, ३०-४४, ४६-५०) श्लोक ठीक ‘उपजाति’ छन्दके लक्षणोंसे युक्त हैं ।

